सिद्धयोग

संस्थापक :
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्तों और
शिक्षाओं का
प्रतिपादक मासिक

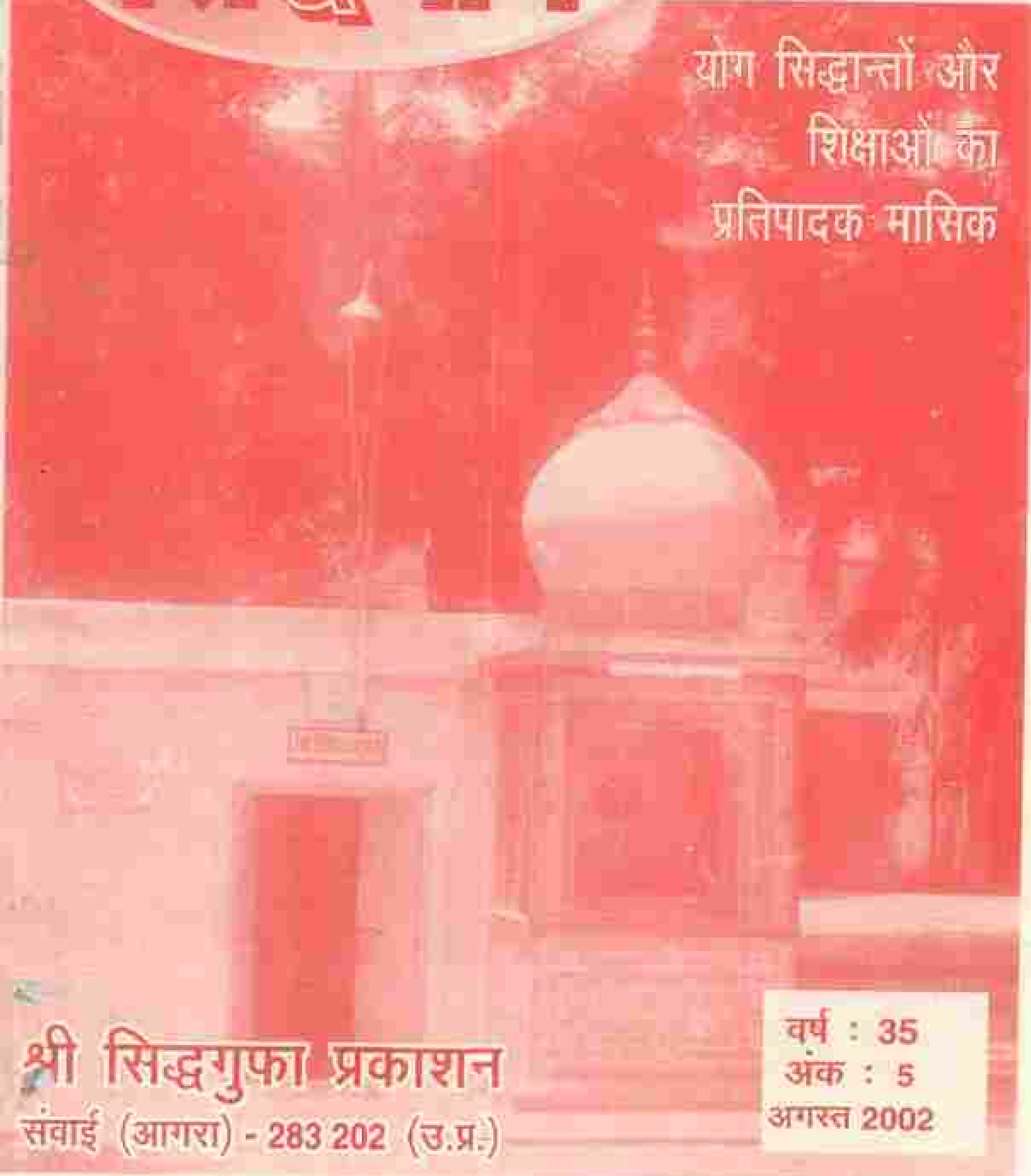

वर्ष : 35
अंक : 5
अगस्त 2002

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
संवाई (आगरा) - 283 202 (उ.प्र.)

SIDDHYOG
MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
डा० विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार
मण्डलों के अध्यक्ष
एवं
गुरु भाई-बहिन

एक प्रति	रु०	9-00
वार्षिक शुल्क	रु०	90-00
द्विवार्षिक	रु०	170-00
आजीवन	रु०	800-00

इस अंक में

- अमृत कण 2
- श्रीप्रभु जी के नेपाल से आगमन का प्रयोजन (विशेष लेख) 3
- सम्पादकीय 9
- सिद्धपीठ की महत्ता
  स्वामी मुक्तानन्दजी महाराज 11
- सर्वांगीण और सतत्-योग
  श्री राजेन्द्र बिहारीलालजी 15
- भाव-प्रसून
  श्रीमती सरिता भारद्वाज 18
- महर्षि पतंजलि और योग
  श्री नारायणस्वामीजी 20
- गुरुतत्व—आगमिक दृष्टि
  आ. प. श्री बलदेवजी उपाध्याय 23
- मंजुला ने जानी गुरुमंत्र जप की महिमा
  राजेश कुमार श्रीवास्तव 28
- स्वास्थ्य चर्चा 36

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संधाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 35
अंक 5

अगस्त
2002

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति मद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विषदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते
साक्षात् तत्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान्।
यत्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।

(श्री दक्षिणामूर्तिस्त्रोत्रम्/3)

भावार्थ

जिसका सदात्मक स्फुरण ही असत्–तुल्य भासित होता है, जो अपने आश्रितों को 'साक्षात् तत्वमसि' अर्थात् 'तुम साक्षात् वही ब्रह्म हो' इस वेद–वाक्य द्वारा ज्ञान प्रदान करते हैं तथा जिनका साक्षात्कार करने से पुनः भवसागर में आवागमन नहीं होता, उन श्री गुरुस्वरूप श्री दक्षिणामूर्ति को यह मेरा नमस्कार है।

अमृत कण

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

(गीता १७/१५)

जो उद्वेग न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रों के पठन का एवं परमेश्वर के नाम-जप का अभ्यास है-वही वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है।

* * *

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
सः योगी ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्मभूतोऽधि गच्छति।।

(गीता ५/२४)

जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुखवाला है, आत्मा में ही रमण करने वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है।

* * *

न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान्न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो न शोचते हृष्यति नैव चायम्।।

(विदुरनीति ४/१५)

जो न तो स्वयं किसी से जीता जाता, न दूसरों को जीतने की इच्छा करता है, न किसी के साथ वैर करता और न दूसरों को चोट पहुँचाना चाहता है, जो निन्दा और प्रशंसा में समान भाव रखता है, वह हर्ष-शोक से परे हो जाता है।

* * *

येनाकार्यं शतं कृत्वा कृतं गंगैव सेवनम्।
तत्सर्वं तस्य गंगाम्भो दहत्याग्निरिवेन्धनम्।।

(प्रायश्चित्तेन्दु शेखर)

जिसने पहले सैंकड़ों पाप कर लिए, पर जीवन में वह गंगाजी का ही सेवन करता है, उसके सभी-पाप अग्नि में काष्ठ की तरह भस्म हो जाते हैं।

विशेष लेख

श्री प्रभुजी के नैपाल से आगमन का प्रयोजन

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मेरे आत्म तेजांश बच्चों !

आज मैं तुम्हें बतलाऊँगा कि श्री प्रभु जी हिमालय से यहाँ क्यों आये ? इस सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें तुम्हें बता देना चाहता हूँ। महाप्रभु जी जो हमारे दादा गुरुदेव हैं स्वयं सदाशिव हैं उनकी आयु का कोई ठीक-ठीक अनुमान नहीं है। श्री प्रभु जी जिस समय हिमालय में गये तो उस समय अन्य योगी जो ४००-५०० वर्ष की अवस्था वाले थे, उनसे प्रभु जी ने अपने गुरुदेव की आयु के विषय में पूछा-उन्होंने कहा कि यही बात उन्होंने भी अपने गुरुदेव से जो ५००-७०० वर्ष के थे, भी पूछी थी-गुरुओं ने भी यही कहा कि उनके गुरुदेव भी कहा करते थे कि महाप्रभु जी की आयु का कोई अनुमान नहीं लगा सकते वे उन्हें इसी रूप में देखते चले आ रहे हैं। फिर भी, उन योगियों के कथनानुसार उनकी आयु ५-६ हजार वर्ष से अधिक ही है।

नैपाल में विचरण करते हुये आनन्दकन्द श्री प्रभु जी गुरुदेव योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज-गुह्येश्वरी मन्दिर पहुँचे। वहाँ चार-पाँच दिन तप व एकान्तवास किया। वहाँ से महाप्रभु जी इन्हें आकाश मार्ग से अपने स्थान पर ले गये थे महाप्रभु जी स्वयं सदाशिव रूप हैं। छः महीने में एक बार समाधि से उठते हैं। एक बार मैंने श्री प्रभु जी को भगवान शंकर का चित्र दिखाते हुये पूछा था-प्रभु जी। क्या यही मेरे दादा गुरुदेव हैं। श्री प्रभु जी ने हँसकर कहा-'नहीं। यह नहीं हैं। तुम्हारे दादा गुरु तो इनके भी दादागुरु हैं'। ये शब्द श्री प्रभु जी ने अपने श्री मुख से कहे। महाप्रभु जी ने श्री प्रभु जी को अपनी गुफा के पास ले जाकर छोड़ दिया। श्री प्रभु जी को एक जड़ी बताते हुये कहा-इस जड़ी से बच कर रहना यह आदमखोर जड़ी है। इसके बाद महाप्रभु जी समाधि में बैठ गये। श्री प्रभु जी ने एक बार उस जड़ी के पत्ते पर एक मरा हुआ मेंढक रख दिया। ऐसा करते ही पता बन्द हो गया। थोड़ी देर में पत्ता स्वयं खुल गया। उसमें मेंढक की राख ही मिली। श्री प्रभु जी इस आदम खोर जड़ी से सदा बचते रहे। घूमते हुये श्री प्रभु जी एक दिन एक ऋषि की गुफा में पहुँच गये। वह ऋषि छः सात सौ वर्ष के थे। श्री प्रभु जी ने उस ऋषि से कहा-हमारे गुरुदेव तो समाधि में बैठ गये हैं। अब हमारी यहाँ देखभाल व रक्षा कौन करेगा ? वह ऋषि कहने लगा-अरे! वे सारी दुनियाँ की रक्षा करते हैं। तुम्हारी एक की रक्षा नहीं करेंगे अस्तु। वहाँ आस-पास में गुफाओं में आठ सौ, नौ सौ वर्ष की आयु के अनेक ऋषि रहते थे। जब महाप्रभु जी छः महीने की समाधि में थे तो उस समय श्री प्रभु जी ने उनकी कई प्रकार की सेवायें की। उनकी समाधि में बैठे-बैठे श्री प्रभु जी के पट फट गये थे। श्री प्रभु जी ने एक जड़ी का रस लगाया किन्तु इसमें थोड़ा-थोड़ा रक्त बहने लगा ठीक नहीं हो पाया। श्री प्रभु जी ने दूसरे एक योगी से कहा-हमने घाव पर जड़ी लगाई किन्तु यह ठीक नहीं हुआ। वह योगी हंस कर कहने लगा तुम इनके घावों का

इलाज करोगे ? जब ये समाधि से उठेंगे तो अपने आप सब ठीक हो जायेगा। वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। श्री प्रभु जी ने उनके बैठने के लिये एक सिंहासन तैयार किया था। महाप्रभु जी जब समाधि से उठे और कहा-देखो! हमारे ब्रह्मचारी ने हमारा कितना अच्छा इलाज किया है और हमारे लिये सिंहासन भी बनाया है। जब महाप्रभु जी समाधि से उठते हैं तो वहाँ ऋषियों का समुदाय इकट्ठा हो जाता है। वे लोग अपनी जटाओं में से बाल निकाल कर उनमें फूल लगाकर उन्हें अर्पित करते हैं। कन्दमूल भी लाते हैं किन्तु महाप्रभु जी इन्हें खाते नहीं हैं। एक शास्त्रीय सिद्धान्त योगियों के विषय में प्रचलित है-**'गुरोस्तु मौनम् व्याख्यानम् शिष्यास्तु छिन्न संशयाः'** गुरुदेव के चुपाचुपी के व्याख्यान चलते हैं और शिष्यों के संशय नष्ट हो जाया करते हैं। यह हिमालय के सिद्धों का अपना ढंग है। वहाँ ज्यादा बोलते-चालते नहीं हैं। किन्तु जिज्ञासुओं की शंका-निवारण हो जाया करती है। फिर भी बोलने वाले बोल पड़ते हैं। महाप्रभु जी समाधि से उठे तो हमेशा की भाँति आसपास के सभी ऋषि एकत्रित हुये। उनमें एक ऋषि थे जिनकी आयु पाँच छः सौ वर्ष से अधिक थी। उन्होंने महाप्रभु जी से एक प्रश्न किया कि संस्कार काट देने अच्छे हैं या उनका भुगतान करना अच्छा है'। महाप्रभु जी ने श्री प्रभु जी की ओर इशारा करते हुये कहा कि यह सब सवाल का जवाब देगा। श्री प्रभु जी की आयु उस समय मुश्किल से अठारह-बीस वर्ष की थी।

वह ऋषि चिढ़ गया और कहने लगा-'मेरी शंका की निवृत्ति यह करेगा ? महाप्रभु जी ने कहा-'तुम्हारी शंका का निवारण यही करेगा'। वह ऋषि कहने लगा-यह चौरासी लाख भोगने लायक मेरी शंका का निवारण करेगा ? इस पर महाप्रभु जी ने कहा-'खैर ! इसका चौरासी लाख तो हम देख लेंगे। अपने आप तो यह तैयार नहीं हुआ हमारी आज्ञा से ही हुआ है किन्तु अब तू भी नीचे (जमीन के अन्दर) उतर जा। श्री प्रभु जी बताते थे कि महाप्रभु जी ने एक घण्टे में ही असंख्य योनियों में से निकालते हुये चौरासी का शाप कटवा दिया। महाप्रभु जी के शाप से वह ऋषि नीचे पृथ्वी में चला गया केवल उंगलियाँ ही बाहर रह गई। इस पर अन्य ऋषियों ने कहा-इनका (प्रभु जी) भुगतान तो आप ने करा दिया किन्तु इसका क्या होगा ? महाप्रभु जी ने कहा 'इसका क्या होगा' इसे नीचे उतरने का शाप था उतर गया अब यह पहले की तरह जी उठे। महाप्रभु जी के कहते ही वह जीवित होकर ऊपर (जमीन से) आ गया। हम लोगों ने श्री प्रभु जी से पूछा था प्रभु जी ! इसके लिये ऐसा क्यों हुआ ? प्रभु जी ने कहा-वह क्रोधी व अहंकारी था उसने गुरु के थपेड़े नहीं खाये थे। इसलिये नीचे उतरना पड़ा। इस प्रकार की घटनायें नेपाल हिमालय में घटती रही। श्री प्रभु जी भी वहाँ समाधिस्थ रहते रहे।

किन्तु कुछ समय बाद महाप्रभु जी ने आज्ञा दी कि तुम पृथ्वी पर जाओ। तुम्हारे जो संस्कारी हैं उनमें से बहुत से ऐसे हैं जो हमारी शरण में आयेंगे और पूर्ण योग को पायेंगे। उन संस्कारियों को ग्रहण करने के लिये तुम संस्कारों का भुगतान करो। इस प्रकार से महाप्रभु जी की आज्ञा मानकर के श्री प्रभु जी नैपालधाम से आये। देखने और कहने सुनने के अन्दर तो उसी शरीर से आये किन्तु हमारे पास रिकार्ड है कि एक ही समय में वे अनेक जगह पर प्रकट रहे इसका विस्तार से वर्णन किसी दूसरे व्याख्यान में करूँगा। मेरा कहने का अभिप्राय यह है कि श्री प्रभु जी नैपाल से निर्माण काय से आये और योग का प्रचार किया।

महाप्रभु जी ने ही श्री प्रभु जी को भूमण्डल पर आने की आज्ञा दी थी। प्रभु जी के जो भी संस्कारी बच्चे भूमण्डल पर हैं, उनका उद्धार होगा तथा इस प्रकार से वे सब हिमालय में महाप्रभु जी के चरणों में पहुँच जायेंगे।

प्रज्ञा प्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

योगी शोकरहित हुआ प्रज्ञा प्रसाद पर आरूढ़ हुआ संसारी के दुःखी जनों को उसी प्रकार देखता है, जिस प्रकार किसी ऊँचे पहाड़ पर बैठा हुआ व्यक्ति, भूमि के लोगों को देखा करता है।

इसी लक्ष्य को लेकर संस्कार भुगतान का बहाना लेकर श्री प्रभुजी हम सब का कल्याण करने के लिए अवनि मण्डल पर अवतरित हुये। इस पृथ्वी पर आकर श्री प्रभु जी ने मानव के सर्वतोमुखी कल्याण के लिये तीन प्रकार के कार्य आरम्भ किये-

(१) शक्तिपात दीक्षा द्वारा योग मार्ग में लगाना:

श्री प्रभुजी ने अपने संस्कारी बच्चों के कल्याण के लिये शक्तिपात दीक्षा देकर उन्हें योगरूढ़ किया। षटचक्रों का क्रम से ध्यान करवाकर उनमें लयता प्रदान करके सर्वप्रथम साधक को मूलाधार कमल के ध्यान में लगवाते थे। साधक पृथ्वी तत्व का साक्षात्कार करता था। उनके सूक्ष्म तत्व-गन्ध तन्मात्र में लयता प्राप्त कराते थे। इसके बाद स्वाधिष्ठान कमल में जल तत्व और उसके तन्मात्र रस का मणिपूरक में अग्नि एवं रूप का-अनाहत में वायु तथा इसके स्पर्श तन्मात्र का, विशुद्ध कमल में आकाश एवं शब्द का साक्षात्कार कराते थे। इसके बाद मन बुद्धि का साक्षात्कार करके हृदय ग्रन्थि का भेदन-ये सब योग-भूमिकायें उनकी कृपा से साधकों को उपलब्ध हो जाया करती थी।

साधना काल में श्री प्रभु जी अपने बच्चों को लोक लोकान्तर के दर्शन करा दिया करते थे। ताकि साधना में साधक का मन दिव्य लोगों में न फँस जाये तथा पर वैराग्य दृढ़ हो जाये।

वैराग्य दो प्रकार का होता है अपर वैराग्य और पर वैराग्य-

अपर वैराग्य-**'दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्'** अर्थात् इस लोक के एवं स्वर्गादि दिव्य लोक के विषयों से मन का तृष्णा रहित हो जाना अपर वैराग्य है।

पर वैराग्य इससे आगे है।

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्'

विवेक ख्याति द्वारा गुणों से भी वितृष्ण होने पर जो वैराग्य होता है, वह पर वैराग्य है।

भगवान ने गीता में-

"त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"

कहकर साधक को निस्त्रैगुण्य स्थिति में पहुँचने का आदेश दिया है। इस प्रकार श्री प्रभु जी ने साधकों को योग की उच्चतम भूमिकाओं में प्रवेश कराया था। दूसरा कार्य जो श्री प्रभु जी ने प्रारम्भ किया-

(२) आसन् हठयोग आदि की शिक्षाओं का प्रचार व प्रसार

श्री प्रभु जी ने पहले-पहल नेति धोती आदि षटकर्म तथा बज्रौली सहजौली अमरौली आदि क्रियाओं का प्रचार किया। मुझे अच्छी तरह याद है मैं ऋषिकेश में गंगा किनारे सूत्र नेति कर रहा था

एक साधु ने मुझे नेति करते देख लिया वह मेरे पास आकर कहने लगा आप को यह किस ने सिखाई है यह तो बहुत गुप्त क्रिया है, इसको इस प्रकार हर व्यक्ति के सामने नहीं करना चाहिये। कहने का अभिप्राय यह है कि उस समय इन क्रियाओं का प्रचार जन साधारण में नहीं था। हमारे आश्रमों से ही इसका प्रचार-प्रचार पहले पहल श्री प्रभु जी ने किया था। इन क्रियाओं का प्रचार जितना व जिस रूप में हुआ वह उतने तक ही सीमित रह गया, उससे आगे की क्रियाओं का प्रचार किसी ने नहीं किया।

लो, बज्रौली क्रिया की बात करते हैं। मूत्रेन्द्रिय से तेल-पानी आदि चढ़ाने वाले काफी हो गये हैं। किन्तु कोई हमारे सामने आकर बताये कि वीर्य का ऊर्ध्वाकर्षण कैसे किया जाता है इसे कोई नहीं बता पायेगा। क्योंकि श्री प्रभु जी ने इसे विशिष्ट लोगों को ही बताया था। तीसरा कार्य श्री प्रभु जी ने किया-

(३) योग साधनों से रोग निवारण-

आज जगह-जगह यौगिक क्रियाओं द्वारा लोग रोगों की चिकित्सा करते-कराते हैं। श्री प्रभु जी ने हिमालय से आकर जीवन तत्व साधन की नौ क्रियाओं का प्रचार किया। आज दूसरे योगाश्रमों में भी यह क्रियायें कराई जाती है। किन्तु लोगों ने इसका ढंग व नामादि बदल दिये हैं वह प्रत्यक्ष में यह कहलाना नहीं चाहते कि इन क्रियाओं का मूल प्रचार किसने किया।

जीवन तत्व साधन के अभ्यास से वृकाग्नि पैदा हो जाती है। हमने भी कई साधकों को जीवन तत्व साधन कराकर उनकी जठराग्नि बढ़ाई तथा जीवन तत्व का दिव्य प्रभाव देखा। गाँव महासिंह गढ़ी, जो सवांई आश्रम के पास में ही है, का एक लड़का विद्याराम हमारा शिष्य है। आजकल वह दिल्ली में कहीं नौकरी कर रहा है। हमने उसे जीवन तत्व साधन का पूरा अभ्यास कराया था। ढाई घण्टे सुबह व ढाई घण्टे शाम को जीवन तत्व वह करता था इसके परिणाम स्वरूप उसकी वृकाग्नि पैदा हो गई। उसे हमने कच्ची सब्जियाँ, भीगी कच्ची दालें खिलानी शुरू कर दी थी। एक बार लखनऊ में पंचायत की प्रदर्शनी लगी। पंचायत के डायरेक्टर उस समय उत्तर प्रदेश के देवी प्रसाद शुक्ला थे। वह मुझ से पूर्व परिचित थे और बहुत श्रद्धा रखते थे। उस प्रदर्शनी में हमें भी आमन्त्रण दिया गया। हम भी वहाँ पहुँच गये। हमने वहाँ योग शिविर लगाया और यौगिक क्रियाओं से लोगों की कई साध्यासाध्य बीमारियों का इलाज किया। उस समय महासिंह गढ़ी का वह लड़का भी हमारे साथ था। उस प्रदर्शनी में विनोबा भावे भी आये हुये थे। हमने वहाँ स्टेज पर ब्रह्मचारियों के जीवन तत्व साधन एवं योगासन के प्रदर्शन करवाये। जीवन तत्व साधन के अनुपम लाभ से लोगों को अवगत कराया। सब लोगों के सामने ही हम ने विद्याराम को कम से कम १५ कि. वजन का कद्दू (काशीफल) छिलका सहित खिला दिया और लोगों को बताया कि इसकी जठराग्नि जागृत हो चुकी है। हम प्रदर्शन के बाद अपने शिविर में पहुँच गये। विनोबा जी ने यह सोचकर कि यह लड़का वमन आदि करके काशीफल को बाहर निकालेगा, इसलिये यह देखने के लिये एक व्यक्ति को हमारे कैम्प में गुप्त रूप से भेज दिया। वह व्यक्ति चुपचाप आकर बैठ गया। महासिंह गढ़ी का लड़का विद्याराम शिविर में आया तो कहने लगा-'गुरू जी ! मुझे भूख लग रही है। हमने कहा पाँच-छः

व्यक्तियों का भोजन बना हुआ है तुम इसे खा लो हम और बनवा लेंगे'। उस लड़के ने पाँच-छः व्यक्तियों के लिये बनी तीस पैन्तीस रोटियाँ खा लीं। इसके बावजूद भी उसकी भूख शान्त नहीं हुई। कहने लगा-गुरु जी ! मेरी भूख तो अब भी शान्त नहीं हुई। दाल बची हुई थी हमने कहा तू यह सारी दाल पी ले। सारी दाल पी जाने के बाद भी वह कहने लगा-गुरु जी ! भूख तो अब भी लग ही रही है। हमने उसे दो तीन किलो पेठे की मिठाई दे दी। इसे खाने के बाद भी वह लड़का कहने लगा-'गुरू जी भूख अब भी लग ही रही है'। यह सुनकर विनोबा जी का वह गुप्त रूप से भेजा आदमी चौंक कर पीछे हट गया। हमने उससे पूछा-क्यों ? क्या बात है ? इस प्रकार क्यों उछल कर कूद पड़े उसने उत्तर दिया- 'महाराज जी! मुझे तो यह देखने के लिये भेजा गया था कि मैं देखूँ यह उल्टी आदि करके खाये गये काशीफल को पेट से बाहर तो नहीं निकाल देगा। किन्तु, मैं देख रहा हूँ कि वमन करने की बात तो दूर उसने यहाँ आकर इतना सारा खा लिया है और अब भी कह रहा है मैं भूखा हूँ। तो अब तो इसके पीछे मैं ही हूँ। ''अब तो मेरा ही नम्बर है'। अर्थात् अब खाने के लिये यहाँ कुछ बचा ही नहीं है तो मुझे ही यह अपना आहार न बना ले।'' इस प्रकार से वह आदमी आश्चर्य और परिहास में बोलने लगा। इन क्रियाओं के करने से साधकों के सभी प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं। यदि कोई मनुष्य अन्य किसी व्यायाम को न करके केवल जीवन तत्व साधन की क्रियाओं को ही करता है तो वह जीवन भर निरोग व सुखी रहता है। इन क्रियाओं के करने से पेट की जठराग्नि अत्यन्त तीव्र हो जाती है। और वे कच्चे पदार्थ भी पचा सकने में समर्थ हो जाते हैं।

जिस समय श्री प्रभु जी श्री सिद्ध गुफा संवाई में रहकर इन क्रियाओं को अभ्यासियों को कराया करते थे, तो उस समय उनके संकल्प से एक प्रकार की वृकाग्नि साधकों के उदर में पैदा हो जाती थी जिसके कारण मनुष्य कई-कई सेर कच्ची सब्जियाँ चने की दाल, दही-दूध आदि खा जाया करते थे। जिस समय मैं पहले-पहल श्री प्रभु जी के चरणों में ऋषिकेश आश्रम पहुँचा था, तो मैं देखता था कि अभ्यासी लोग एक थैला सा पोस्टमेन की तरह बगल में लटका लेते थे और उसमें से भीगे हुये चने और दालें खाते रहते थे। उस समय प्रभु जी साधकों को दो घण्टा सुबह, दो घण्टा दोपहर तथा दो घण्टा शाम को जीवन तत्व साधन कराया करते थे। एक माह तक लगातार ऐसा करने से वृकाग्नि पैदा हो जाया करती थी। प्रायः जीवन तत्व वाले को प्रभु जी रोटी खाने नहीं देते थे। कच्ची सब्जी, कच्ची भीगी दालें तथा फल फूल ही खाते थे। छः महीने में कायाकल्प हो जाता था शरीर बदल जाता था।

जीवन तत्व साधन के विषय में मेरा निजी अनुभव-

जीवन तत्व साधना की मेरे गुरुदेव श्री योगेश्वर प्रभु रामलाल जी महाराज के संकल्प से क्या-क्या अद्भुत कार्य होते थे। और साधक के शरीर में स्वाभाविक क्रिया स्पन्दन किस प्रकार से होने लगता था इस विषय में मैं अपना निजी अनुभव सर्वसाधारण के हित के लिये बताता हूँ। एक बार हमारे ऋषिकेश योग साधन आश्रम में बहुत से साधक जीवन तत्व साधन कर रहे थे जिसके फलस्वरूप उनको जठराग्नि पैदा हो चुकी थी और वे लोग बड़े वेग के साथ कच्ची सब्जियाँ व कच्ची दालें खा रहे थे जिनको देखकर के मेरे मन में इस प्रकार के भाव पैदा हुये कि देखा ये लोग

किस प्रकार पशुओं की तरह खा रहे हैं। मैं यह विचार कर ही रहा था कि आनन्द कन्द श्री प्रभु जी ने मुझ से पूछ लिया कि 'चन्द्रमोहन तुम क्या सोच रहे हो' ? मैंने उत्तर दिया–'प्रभु जी ! कुछ नहीं मैं साधारण रूप से बैठा हूँ। यह उत्तर मेरा असत्य था। मैं अपने मन में यह तो सोच ही रहा था कि ये लोग पशुओं की तरह कच्ची सब्जियाँ आदि खा रहे हैं।

श्री गुरुदेव जी ने मेरे उत्तर को सुनकर हँसते हुये कहा अच्छा बेटा। बैठा रह।' उनके इस प्रकार से साधारण हँसने के फलस्वरूप थोड़ी देर बाद मुझे अनुभव हुआ कि मेरे पेट में एक अग्नि का गोला सा पैदा हो गया है और यह चारों ओर घूम रहा है। जिसके फलस्वरूप मुझे इतनी भूख लगी जिसको शान्त करने के लिये कई दिन का समय लग गया। मैंने अपने पेट में जल रही अग्नि के विषय में श्री प्रभु जी से निवेदन किया। श्री प्रभु जी ने मुझ से पूछा कि अब तू बतला तू इस अग्नि को शान्त करना चाहता है या इन लोगों की तरह कच्ची चने की दाल आदि खाकर पशु बनना चाहता है। इतनी बात कहने पर मैंने श्री प्रभु जी के हास्य को समझा। मैं समझ गया कि अधिक मात्रा में कच्ची दालें खाने के कारण में इन्हें पाशविक दृष्टि से देखता था। मैंने श्री महाराज जी से प्रार्थना की कि प्रभो ! मैं बीमार तो हूँ नहीं कि जीवन तत्व साधन करके कच्ची चने की दाल आदि खाऊँ। इसलिये मैं तो इस अग्नि की शान्ति ही चाहता हूँ।

श्री गुरुदेव जी ने मुझे एक तमाशा सा दिखा दिया जिसका बड़ा भारी आश्चर्य मुझे हुआ। आश्चर्य की बात यह थी कि मुझे खाने के लिये अधिक से अधिक सामग्री खिलाई गई किन्तु तीन दिन रात्रि तक मेरी वह भूख किसी प्रकार से शान्त नहीं हुई। दो दिन निकल जाने के बाद श्री प्रभु जी ने मुझे आदेश दिया कि अब तू जाकर गंगा जी के जल में बैठकर चन्द्र बिन्दु का ध्यान कर एवं शीतली प्राणायाम कर। वह फाल्गुन का महीना था सर्दी के दिन थे। श्री गंगा जी का बर्फानी जल अत्यन्त ठण्डा था। पानी में प्रवेश करना ही कठिन था। ऐसी अवस्था में गंगा जी के ठण्डे जल में बैठकर मन एकाग्र करके चन्द्र बिन्दु को सामने लाना और फिर शीतली प्राणायाम करना कठिन कार्य था किन्तु श्री गुरुदेव की कृपा से सब कुछ सम्भव हो गया। परिणाम स्वरूप तीन दिन के बाद मेरी वह भूख ठीक हुई। इन तीन दिनों के अन्दर मुझे यह भली प्रकार अनुभव हो गया कि ऐसा भी हो जाया करता है।

आमतौर पर भूख सभी को लगती है किन्तु भोजन करने के उपरान्त वह भूख शान्त हो जाया करती है। किन्तु श्री प्रभु जी के संकल्प से जो अग्नि पैदा हुई उसको शान्त करने में तीन दिन का समय लगा। तब कहीं मैं पूर्व स्थिति में आ पाया। मैं लगभग सन् १९२८ में श्री प्रभुजी के चरणारविन्द में पहुँचा था उस समय मैंने अपने आश्रम में जाकर देखा कि आमतौर पर साधना करने वाले सभी व्यक्ति जीवन तत्व साधन किया करते थे। उनको और किसी भी प्रकार का साधन कराया ही नहीं जाता था और इसी साधन के करने से उनको पूरी-पूरी सफलता भी मिल जाया करती थी। इस प्रकार से श्री प्रभु जी ने नैपाल से आकर अपने आश्रमों में जीवन तत्व साधन फल तत्व साधन, अमरतत्व आदि साधनों का प्रचार एवं अभ्यास कराया। आज संसार में यौगिक साधनाओं का प्रचार प्रसार उतने तक ही सीमित है, जितना श्री प्रभु जी प्रचारित कर गये थे।

***

योग एवं परा-मनोविज्ञान

आचार्य (डा०) दासलाल शर्मा

हमारे वैदिक ग्रन्थों में तथा यौगिक साहित्य में सूक्ष्म जगत एवं इसके कार्यों का बहुत वर्णन मिलता है। हिन्दु इतर ग्रन्थों में भी सूक्ष्म जगत के विषय में बहुत कुछ पढ़ने सुनने को मिलता है। भौतिक जगत के प्राणी इन रहस्यमयी घटनाओं के विषय में सदा ही जिज्ञासु बने रहते हैं। भारतीय योगियों एवं मनीषियों ने पुरातन काल से ही अपनी आध्यात्मिक साधना एवं सूक्ष्म जगत की खोज से इन रहस्यों का उद्घाटन किया है।

सूक्ष्म शरीर स्वप्न जगत, मन्त्र-तन्त्र की शक्ति, वर एवं शाप, सूक्ष्म शरीर का गमन, परकाय प्रवेश, पुनर्जन्म आदि विषय परा मनोविज्ञान के क्षेत्र में आते हैं। परा-मनोविज्ञान इन्हीं का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। आज विज्ञान की तरह ही परा-मनोविज्ञान भी विज्ञान का अभिन्न अंग बन चुका है। भौतिक वैज्ञानिक भी सूक्ष्मजगत के रहस्यों को अपने अनुसंधान द्वारा समझने का प्रयास कर रहे हैं। उन्हें इस क्षेत्र में सफलता भी मिलती जा रही है। इस प्रकार वे सूक्ष्म जगत व तन्मात्र जगत के गुप्त सिद्धान्तों को स्वीकारते चले आ रहे हैं।

वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म शरीर के छायाचित्र लेने का भी प्रयास किया है। आज से लगभग ३०-३५ वर्ष पूर्व सोवियत रूस के एक इलेक्ट्रोनिक विशेषज्ञ सीमयोन किर्लियान ने अपनी वैज्ञानिक पत्नी वेलेन्टिना के सहयोग से फोटोग्राफी की एक विशेष विधि का आविष्कार किया। इस विधि द्वारा सजीव प्राणियों, अंगियों एवं पौधों के सानिध्य में होने वाले सूक्ष्म विद्युत सम्बन्धी कार्य कलापों का सफल छायाकंन किया जा सकता है। जब इस विधि द्वारा एक पौधे से ताजा तोड़ी गई पत्ती के कार्यकलापों की एक फिल्म खींची गई तो विचित्र दृश्य देखने को मिले। पत्तों पर प्रयोग के बाद मानव शरीर के अत्यन्त निकट से छाया चित्र खींचे। इन छाया चित्रों में गर्दन, हृदय, उदर आदि अवयवों पर विभिन्न रंग के सूक्ष्म धब्बे दिखाई दिये जो इन अवयवों से विसर्जित होने वाली विद्युत ऊर्जाओं के द्योतक थे। ये असाधारण छायाचित्र गुप्त विद्याविदों के इस सिद्धान्त की पुष्टि करते थे कि प्रत्येक प्राणी के दो शरीर होते हैं। एक स्थूल शरीर जो आँखों से दृष्टिगोचर है तथा दूसरा सूक्ष्म शरीर जिसकी सब विशेषतायें प्राकृतिक होती है। पर वह आँखों से दिखाई नहीं देता। वैज्ञानिकों के अनुसार सूक्ष्म शरीर किसी ऐसे सूक्ष्मीकृत पदार्थ के बने होते हैं जिनके इलेक्ट्रोन ठोस शरीर के इलेक्ट्रोन की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से चलायमान होते हैं। उनके अनुसार सूक्ष्म शरीर अस्थायी तौर पर भौतिक शरीर से अलग होकर कहीं भी विचरण कर सकता है

परा मनोविज्ञान को विज्ञान की परिधि में लाने का पहला प्रयास सन् १८८२ में London Society for Psychical Research से हुआ। इसके पश्चात 1885 में American Society

for Psy. Research बनी। परा मनोविज्ञान सम्बन्धी अनुसन्धान में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सिगमंड फ्राइड और कार्ल जुंग की भी बड़ी दिलचस्पी थी। अमेरिका में मनोविज्ञानी और दार्शनिक विलियम जेम्स ने परा मनोविज्ञान पर वैज्ञानिक अनुसन्धान के समर्थन में दौरे किये और व्याख्यान दिये। आगे राईन दम्पत्ति ने परामनोविज्ञान के वैज्ञानिक विश्लेषण की आधुनिक परम्परा का सूत्रपात किया। सन् १९३४ में उन्होंने 'न्यू फ्रांटियर्ज आफ माइन्ड' नामक पुस्तक प्रकाशित की जो बहुत ही लोकप्रिय व प्रभावी रहा। १९६५ में ड्यूक यूनिवर्सिटी से रिटायर्ड होने के बाद उन्होंने Foundation of Research on the Nature of man और उसी के आधीन Institute for Psychology की स्थापना की। इस प्रकार से इस दिशा में बहुत कार्य हुआ। 1969 में American Association for Advancement of Sciences' ने भी अपने यहाँ Para-Psychology को विज्ञान का दर्जा दिया तथा सन् 1970 से भौतिक, रसायन आदि वैज्ञानिक विषयों की तरह Para-Psychology के विद्वान भी उनके साथ बैठकर शोध प्रबन्धों द्वारा दिव्य शक्तियों और इन्द्रियातीत क्षमताओं पर विज्ञान की मान्यता प्रदान करा रहे हैं। इस प्रकार से परामनोविज्ञान ने सिद्ध कर दिया कि स्थूल शरीर के बिना भी मन अलौकिक क्रियाओं का सम्पादन कर सकता है। इस प्रकार से विज्ञान के प्रयोगों एवं प्रयासों से योग के समस्त सिद्धान्त एवं विभूतियों की सत्यता को स्वीकारने के लिये भौतिकवादी मानव मजबूर हो गया है। योग एवं परामनोविज्ञान में परस्पर बहुत सम्बद्धता है। किन्तु अन्ततोगत्वा परा-मनोविज्ञान योग में ही समाहित हो जाता है। मनोविकास का मार्ग यदि कोई समझ ले तो आत्मोत्थान के साथ-साथ योगी में विभूतियाँ प्रकट होती चली जाती हैं। और योगी विभूतिमान होता चला जाता है। परा-मनोविज्ञान को सूक्ष्म अवस्था में ले जाया जाये तो वह भी समाधि का जनक हो जाता है। योगी प्राण तत्व पर अधिकार करके सूक्ष्म शक्तियों को स्वायत्त कर लेता है। इस प्रकार से परा-मनोविज्ञान को सहायक बनाकर योगी ऋतम्भरा प्रज्ञा की ओर जा सकता है।

हमारे पूर्वज योगी महर्षियों ने परमाणु से लेकर महतत्व अर्थात् बुद्धि तत्व तक सभी तत्वों पर अपना अधिकार प्राप्त कर लिया था। योग मार्ग में ही इस प्रकार की व्यवस्था है कि साधक उत्तरोत्तर मानसिक विकास को पाता चला जावे और क्रमशः प्रकृति को अपने वश में कर ले। अलौकिक ज्ञान का उदय योग मार्ग के अवलम्ब से ही संभव है। योगी ही आत्म विज्ञानी होता है। इसलिये ही सर्वज्ञातृत्व आदि शक्तियाँ योगी को ही सुशोभित करती हैं। योगी का लक्ष्य प्रकृति को वश में करना ही नहीं है किन्तु स्वरूप स्थिति ही योगी का लक्ष्य है।

मन्त्रों की अलौकिक शक्तियों को विज्ञान भी मान रहा है। मन्त्र जाप से चेतना की पराकाष्ठा तक साधक पहुँच जाता है। और ऋषि मुनियों की तरह अलौकिक शक्तियों का स्वामी बन जाता है।

***

सिद्धपीठ की महत्ता

-स्वामी मुक्तानन्द जी महाराज

भगवान नित्यानन्द के पास बहुत से जन आते, साधना करके, सभी को एक ही इच्छा थी कि वे नित्यानन्द बनें। सबकी अभिलाषा ऋद्धि-सिद्धि तथा सम्मान पाने की और नित्यानन्द बनने की थी। हर कोई कहता, 'मैं बड़ा, मैं बड़ा। मैं नित्यानन्द का अधिक प्यारा। मुझ पर ही उनकी कृपा हुई है। दूसरे को इतना नहीं मिला।' इस प्रकार उपद्रव और पीड़ा पहुँचाने वाले स्वर भक्तों में सुनाई देने लगे, जिससे ईर्ष्या, मात्सर्य, द्वेष, विडम्बना और आडम्बर बढ़ने लगा। जितनी मात्रा में यह सब बढ़ा, उतनी ही नित्यानन्द से प्राप्त मस्ती कम होती चली। ध्यान की मात्रा घटती चली। 'वह क्या बोला ?' 'उधर क्या हुआ ?' 'उसको क्या आता है ?' 'मेरे जैसा कौन है ?' 'मेरी बात तो नित्यानन्द भी सुनता है, फिर दूसरे का क्या कहना ?' 'हमारी बात स्वामी को माननी ही चाहिए।' 'तुम अपने को क्या समझते हो ?' -ऐसा भवजाल और भ्रम फैलने लगा। अपने को ही नित्यानन्द मानते-मानते भक्तलोग अपने में दर्प और दम्भ की मात्रा बढ़ाते चले। बहुत भारी विघ्न उपस्थित होने लगे। जहाँ सर्व पाप दूर होना चाहिए था, जहाँ निष्पाप और निर्मल बनना चाहिए था, वहाँ ऐसा रोग फैला। अस्तु।

> प्रस्तुत लेख स्वामी मुक्तानन्द जी महाराज कृत 'चित्‌शक्ति विलास' नामक पुस्तक से उद्धृत है। इनके गुरुदेव स्वामी नित्यानन्द जी थे जो आनन्दकन्द प्रभु जी रामलाल जी महाराज के कृपापात्र सिद्ध थे। इन्होंने प्रभु जी के सिद्धयोग का प्रचार प्रसार किया है। इस पुस्तक में से कुछ अध्याय, साधकों के हितार्थ प्रकाशित करा रहे हैं। जिससे साधकगण लाभान्वित हो। गणेशपुरी महाराष्ट्र में यह सिद्धपीठ सुशोभित है।
>
> सम्पादक

ध्यान करने वाले साधक को याद रखना चाहिए कि गुरुप्रेम के प्रभाव से जिस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धता और सात्विकता दिन प्रतिदिन बढ़ती है, उसी प्रकार ईर्ष्या, मात्सर्य तथा विषयाचरण वृत्ति से ये शुभ भावनाएँ दिन प्रतिदिन घटती हैं। मानव के लिए यह बात निश्चित है कि या तो उसका ध्यान और पुण्य बढ़ेगा, तथा उसे शांति और स्वर्ग सुख मिलेगा; अथवा उसके अन्तर में कलह बढ़ेगा, पुण्य घटेगा, पाप की नित्य वृद्धि होगी और विषयासक्त बनते-बनते वह नरक का भागी बनेगा।

आश्रम में रहने वालों को सावधानी से जीवन बिताना चाहिए। सिद्धपीठ गुरुजनों का दरबार, धधकती हुई प्रज्वलित योगाग्नि का केन्द्र है। जैसे यह अग्नि पाप को पूर्णतया जलाकर आपको योगेश्वर बना देगी, वैसे ही आश्रम में रहते हुए साधनारहित, विषय विकारों से युक्त जीवन बिताने से पुण्य को घटाकर निस्तेज भी कर देगी। आश्रम में वासनाओं का विलास कदापि नहीं होना चाहिए। आश्रम में रहने वालों को अन्य सभी आश्रम वासियों में अपने आत्मरूप गुरुदेव को ही देखना चाहिए, जिससे ध्यान उत्तरोत्तर बढ़ेगा। आरम्भ में भक्त बनकर आने वाले साधक कभी भी

दूसरों के गुणदोष न देखें। जो दोष देखते हैं वे दोषों को बढ़ाते हैं; योग की शक्ति को घटा लेते हैं। फिर ऐसा सोचना कि 'अब इधर मज़ा नहीं, दूसरा आश्रम ढूंढ़ना चाहिए'–यह व्यभिचारिणी वृत्ति है। दूसरे आश्रम जाकर भी उनका ऐसा ही हाल होगा। आश्रम को विलासभूमि नहीं बनाना चाहिए। यह गपशप का या कॉलेज के लड़के-लड़कियों का विलासस्थान नहीं है। टेनिस खेलने का क्लब नहीं है। चैनबाजों का 'व्हिस्की' या 'ब्रैण्डी' का 'बार' नहीं है। आश्रम में जाने वालों को अमर्यादित, स्वच्छन्द, मनमाना व्यवहार करके अपनी प्राप्त शक्ति को नष्ट करके पथभ्रष्ट नहीं होना चाहिए। जहाँ तहाँ मर्जी ही बैठक जमाना, गप्पबाजी करना, जिससे लोकनिन्दा, संशय या दोषारोपण आवे, ऐसा व्यवहार योगसिद्धि को नष्ट कर देता है। आश्रम के प्रति निष्ठा, श्रेष्ठ आचरण, सत्कर्म, नियमित जीवन होने से चिति के अन्तरकार्य, कुण्डलिनी के विलास का महान अनुभव दूर नहीं। अभी-अभी की बात है। साधना करने वाली एक लड़की ने ध्यान की उच्च अवस्था को प्राप्त किया है। यद्यपि उसको आये अभी एक महीना भी पूरा नहीं हुआ, उसको उच्च ध्यान लगता है। अनेक मुद्राएँ होती हैं। वह ध्यानावस्था में ध्यान से भागकर मेरे पास आयी। वह बाएं हाथ से दाहिने हाथ की बीच की अंगुली पकड़े हुए थी। बोली, 'बाबाजी, यहाँ मुझे सर्प ने काट लिया है। इसलिए मैं उठकर ध्यान छोड़कर आपके पास आ गयी हूँ।' क्या ऊँची अनुभूति है। थोड़े ही समय में उसने कितनी मंजिलें पार कर लीं ! सिद्धयोग में दाहिने हाथ की मध्यमा अंगुली को सर्प का डसना महान मोक्षधर्मसिद्धि का चिह्न है। सिद्धयोग के अभ्यासी को स्वप्न में भी यदि सर्प काटे तो उसके लिए मोक्ष निश्चित है। यदि ध्यान-काल में ऐसी अनुभूति हो तो महान श्रेष्ठ है। अस्तु।

परशक्तिमयी श्रीकुण्डलिनी महाविद्या को सिद्धविद्या कहते हैं। इस मार्ग का साधक सिद्धविद्यार्थी कहलाता है। इस मार्ग को सिद्धमार्ग या सिद्धपंथ कहते हैं। सिद्धपीठ एक ऐसा स्थान है, जो सर्वत्र चिति प्रेरित परमाणुओं से भरा होता है। सिद्धपीठ में दी गयी कुण्डलिनी दीक्षा शाम्भवी दीक्षा कहलाती है। हंस गायत्री एवं हंस प्रणव इसके जपमन्त्र हैं। प्राणापान द्वारा हंसानुसन्धान ही इस मार्ग का प्राणायाम है। ऐसे सिद्धपीठ या आश्रम का रक्षण, यहाँ का सर्व योगक्षेम सिद्धलोक के वासी समस्त महापुरुष करते हैं इसमें परमपुरुष सिद्धेश्वर और उनके परम्परागत सिद्धयोगी और सिद्धयोगिनियाँ शक्ति प्रदान करते हैं। सिद्धमार्ग के ध्यान-साधन के काल में यदि आप सिद्धाश्रम में रहें तो आपको सिद्ध लोक के वासियों, अनेक ऋषि-मुनि-योगियों के दर्शन अवश्य होंगे। दिव्यनाद, महानिद्रा, लोक-लोकान्तर के दृष्टान्त आदि सिद्धियों की प्राप्ति होगी। सिद्धविद्यार्थियों और सिद्धविद्यार्थिनियों, अपने शरीर में सिद्धप्रेरित सिद्धशक्ति के प्रसरण को सावधानी से सम्भालो। परस्पर एक दूसरे को क्रोध, रोष, पापदृष्टि, अथवा भेददृष्टि से कभी न देखो। स्वप्न में भी दोषाचरण न करो। न दोष बढ़ाओ न ही सिद्धाचरण के विरुद्ध कोई व्यवहार करो। सिद्धगति को समझ कर चलो। नहीं समझने से वह उतनी ही हानिकारक है। अनादि, अनन्त, अपार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली परमपुरुष परशिव से लेकर आज तक, अर्थात् आज के सिद्धविद्यार्थी-सिद्धविद्यार्थिनियों तक, सिद्धविद्यारूप से-पिता से पुत्र और पुत्र से भावी पिता, माता से पुत्री और पुत्री से भावी माता जैसे

रस, रक्त, रूप, लिंगादि से अभेद, अभिन्न हैं, वैसे ही उस अनादि, अगोचर, अविचल, अविकारी, सत्-चित्-आनन्दमय परमगुरु की ही शक्ति शक्तिपात रूप में पूर्ण व्याप्त है। वह चितिशक्ति अनादि होने पर भी नित्य नूतन है। इस शक्ति को शिवजी ने 'शिवसूत्र' में इच्छा शक्तिरुपा कुमारी कहा है। वह परमेश्वर की आत्मरूप अपनी पवित्र इच्छा शक्ति है। वह उमा है। अर्थात् साधकजन को उत्तरोत्तर मार्गदर्शन करने वाली कुमारी है। वह महामहिमामयी चितिशक्ति, परमेश्वरी गुरुकृपारूप शक्ति बनकर सिद्ध विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों में व्याप्त रहती है।

वस्तुतः कोई सिद्धविद्यार्थी एवं विद्यार्थिनी सिद्धमार्ग में आगे बढ़े तो सम्माननीय है। उसका सम्मान पराशक्ति का सम्मान है उसके प्रति अपमान या कुभावाचार ठीक नहीं, क्योंकि वह कुभाव उन पराशक्ति परमशिव श्री गुरु के प्रति ही होगा। साधक योगी और योगिनी परस्पर यही एक दृष्टि रखें कि उनमें मेरे पूज्य श्री गुरु की परमशक्ति ही व्याप्त है, क्योंकि साधकों में व्याप्त शक्ति और उनमें व्याप्त शक्ति, एक चिति की है किसी के प्रति अवहेलना, अपमान, कुदृष्टि, दोषदर्शन आदि मत करो। सावधानी से चलते हुए अन्तर में समझो कि जो पराशक्ति श्री गुरु में है वही उसमें है। वही मुझमें है। यदि ऐसा नहीं किया तो तुम्हारा साधन, प्रसादरूप से प्राप्त भिन्न-भिन्न दृष्टान्त रुक जायेंगे। दूरदर्शन, दिव्यदर्शन रुक जायेंगे। तुमको अनेक प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति नहीं होगी। एकमात्र तुम में व्यापी हुई पारमेश्वरी शक्ति से मित्रता, गुरुकृपाशक्ति से दोस्ती, साधन क्रियाओं से संगति करो। भिन्न-भिन्न अन्तर अनुभूतियाँ तुमको बहुत होंगी, उनमें ही रमो। उन्हीं का प्रेम से स्मरण करो। अन्तःकरण की अपनी पवित्र वृत्ति, कुभावना एवं अनाचार से मत बिगाड़ो। याद रखो कि महाशक्ति को सम्भालने की महान तपस्या तुमको ही करनी होगी। जैसे यदि एक गर्भिणी अनियमित खान-पान, विलास, स्वच्छन्दता, भ्रष्टाचार से दूर रहकर अपने गर्भ की जागरूकता और सावधानी से नहीं सम्भाले तो वह गर्भ गिर जाता है, दोष आ जाता है या पिण्ड बलवान नहीं होता; जैसे धनवान धन को, गुणवान गुण को नहीं सम्भाले तो उसका धन या गुण थोड़े काल में ही नष्ट हो जाता है; वैसे ही यदि कोई साधक संयमहीन रहता है तो शक्ति क्षीण हो जाती है।

सिद्धों की संगति में तथा सिद्धपुरुषों के आश्रम में जागरुकता से रहना चाहिए। सिद्धयोग के विद्यार्थी एवं विद्यार्थिनियों का परस्पर व्यर्थ बातें करते रहना, मृषा वार्तालाप और स्वच्छन्दाचरण करते रहना, सिद्धनीति के विरुद्ध है। सिद्धयोग के साधक को किसी का भी उच्छिष्ट भोजन नहीं खाना चाहिए। न ही किसी का अनावश्यक अंग स्पर्श करना चाहिए। चिति की महिमा महान है। वह परम पवित्र है। अर्थात् परमशुद्धता के आचरण का अर्थ जातिभेद, छुआछूत तथा ऊँच-नीच की भावना नहीं, सजावट नहीं। उसका अर्थ मुख्यतः पवित्रता से है। मानव के हृदय में दिव्यशक्ति का बल सहज तैयार होता है। अनावश्यक गप्पें, गुणहीन जनों की संगति उस शक्ति भंडार को नष्ट कर देते हैं।

मानव के मनोराज्य में अनेक प्रकार के शक्तिपुंज नित्यप्रति उदय-अस्त होते रहते हैं। मानव जो-जो व्यवहार करता है उसके अनुसार वह हो जाता है। इसी को **'क्रतुमय पुरुष'** कहते हैं। तुमने

पवित्र भावना से ध्यान द्वारा चिति शक्ति के जिस पुंज को जमाया वह नित्यप्रति बढ़ते-बढ़ते पूर्णत्व तक पहुँचना चाहिए। आधे में ही नहीं रुक जाना चाहिए। सिद्धविद्यार्थी और सिद्धविद्यार्थिनियाँ विशेषकर इस शक्ति को बढ़ायें। यह शक्ति संसार और परमार्थ दोनों में काम देती है। यहाँ मैं एक श्लोक लिखता हूँ जो सिद्धयोग के फल का कथन करता है-

यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगो यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः।
श्रीसुंदरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थावैव।।

अर्थात् जहाँ मोक्ष है वहाँ सांसारिक भोग नहीं, जहाँ भोगसाधन है। वहाँ मोक्ष नहीं। परन्तु जहाँ श्रीसिद्धविद्यारूप परमसुंदरी कुण्डलिनी की उपासना होती है, वहाँ भोग और मोक्ष दोनों एक साथ रहते हैं। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है।

इस चराचर जगत का मूल आदिशक्ति भवानी है। भगवान श्रीकृष्ण गीता के तेरहवें अध्याय में यही कहते हैं-

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२९।।

जो कुछ भी दीखने वाली वस्तु, सर्वकर्म और क्रियाएँ हैं, वे परा प्रकृति भवानी ही करती हैं, ऐसा जो देखता है, वह सत्य देखता है। महर्षियों ने उस परतर आनन्दमयी माता श्री चिति भगवती से ऐसी प्रार्थना की है-'**त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।**'-हे जननी ! तुम एक ही सब की माता हो। मूल प्रकृति हो। 'स्पन्दशास्त्र' का कथन है-

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत।

जो परशिव की पराशक्ति है उसी संवित्ति की क्रीड़ा अथवा विलास यह सारा जगत है ऐसे देखने वाले ही यथार्थदर्शी हैं। वही शक्ति कुण्डलिनी, वही अन्तर-साधना क्रियाशक्ति है। इस शक्ति का विकास 'जगत' है। सिद्धयोगियों की शक्तिपात की वही शक्ति है। इसलिए साधकजन आश्रम में विचारशीलता से रहें। अपना व्यवहार ऐसा रखें कि जिससे गुरु कोप न हो जाये या शक्ति क्षीण न हो जाये। जागरुकता से रहें। जितनी पवित्रता से रहेंगे उतनी ही दिव्यता प्राप्त करेंगे। आप जितनी दिव्यता बढ़ाएंगे उतनी ही शक्ति की प्रभा आपको जहाँ-तहाँ दीखेगी। गुरुपीठ के आसपास वृक्ष, लता, फल-फूल, पशु-पक्षी में, अन्दर-बाहर शक्तिपुंज निवास करते हैं तथा इस परम्परा के महासिद्ध-समुदाय की कृपादृष्टि रहती है। सिद्धपीठों में गुरुजनों की परम्परा के सभी महात्मा साधकजनों को देखते रहते हैं यह कभी नहीं भूलना चाहिए। ***

भगवान की कृपा से जब ऐसा भाग्योदय हो कि श्री गुरु दर्शन दें तब सर्वान्तःकरण से श्रीगुरु की शरण लो, उनके बालक बनकर अनन्यभाव से उनकी सेवा करो, इससे तुम धन्य होंगे।

सर्वांगीण और सतत-योग

लेखक-श्रीराजेन्द्र बिहारीलालजी

गीता धर्म का छोटा-सा विश्वकोष है। इसमें योग की सभी मुख्य पद्धतियों का उल्लेख और सभी की प्रशंसा की गयी है। इसका लाभ उठाकर कुछ विचारकों ने अपने-अपने मनपसंद योग को ही गीता का प्रमुख योग बताया है। ध्यानियों का दावा है कि गीता के अनुसार केवल ध्यान से ही मुक्ति मिल सकती है। यही बात भक्त लोग भक्ति के लिये और कर्मयोगी कर्मयोग के लिये कहते हैं। कुल मिलाकर ये सब परस्पर-विरोधी मत एक दूसरे को काट देते हैं और जिज्ञासु को प्रबुद्ध करने के बजाय और भी चक्कर में डाल देते हैं।

अनन्त अनेकता और विभिन्नता के रचयिता परमेश्वर की यह इच्छा कदापि नहीं हो सकती कि विश्व में नीरस एक-समानता फैल जाय और रहन-सहन, बोली एवं विचार में सारे मनुष्य एक-से हो जायँ। यह मानव स्वभाव है कि अपने महत्त्व को बढ़ाने के लिये खींचा-तानी करके वह सबको अपने ढाँचे में ही ढालना चाहता है। मनुष्यों की योग्यता, रुचि और परिस्थिति अलग-अलग होने के कारण गीता के सारे उपदेशों में इसका ध्यान रखा गया है कि मनुष्य को वही उत्तरदायित्व और काम सौंपे जायँ तो उसकी क्षमता और स्वभाव के अनुरूप हों। जन साधारण को कहना ही क्या, बुद्धिमान् पुरुष भी अपने स्वभाव के अनुसार ही काम करते हैं; फिर हठ या बल प्रयोग करने से क्या बनेगा। इस मूल सिद्धान्त को लेकर भगवान् कृष्ण ने आश्वासन दिया है कि जो मुझे जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ; कारण, मनुष्यगण जिस किसी-मार्ग का भी अनुसरण करते हैं वह मेरा ही मार्ग है।

श्री कृष्ण ने जिस पर बार-बार बल दिया है वह है नित्ययोग या सतत-योग अर्थात् चौबीस घंटे का अटूट और सर्वांगीण योग। उदाहरणार्थ-इसलिये हर समय मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर'। 'जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त से स्थिर होकर सदा मेरा स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझसे युक्त हुए योगी के लिये मैं सुलभ हूँ' 'इसलिए हर समय योग में स्थित रह' तथा 'नित्य-संन्यासी' और 'सतत-युक्त' बन।

सतत-योग को गीता का आदर्श मान लेने के बाद यह विवाद समाप्त हो जाता है कि कर्मयोग श्रेष्ठ है या ज्ञान, ध्यान, भक्ति या जपयोग। सारी साधना का अन्तिम लक्ष्य भगवान् से निरन्तर, पक्का और पूरी शक्ति से सम्पर्क स्थापित करना है और इस बात से तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता कि अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये किस योग का या किन योगों का सहारा लिया जाता है। नित्ययोग का द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिये उन्मुक्त है, चाहे उसका रोजगार, पूजन-प्रणाली और समाज में स्थान कुछ भी हो।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि गीता में परम्परागत चार योगों का ही नहीं, बल्कि

अनेक योगों का उल्लेख है। जैसे विषादयोग, अभ्यासयोग, बुद्धियोग, विभूतियोग, आत्मसंयमयोग, विश्वरूप दर्शन योग और पुरुषोत्तमयोग। संसार भगवान से व्याप्त है। और भगवान का शरीर एवं रूप है। इसलिये जीवन का प्रत्येक क्षण, परिस्थिति तथा कर्म भगवान से मिलने का सुअवसर है। इसी हेतु उसका प्रयोग भी होना चाहिये।

सतत-योग द्वारा ही मनुष्य भगवान से पूर्णयोग स्थापित कर सकता है, जीवन को सात्विक बना सकता है और अपने को दैवी गुणों से अलंकृत कर सकता है। यदि पूजा के थोड़े से क्षणों में ही भगवान् से ऐकात्म्य होता है और बाद में टूट जाता है, केवल मन को परमात्मा से जोड़ा जाता है, पर बुद्धि, हृदय और हाथ उसके आदेशों के विपरीत काम करते हैं, अदृश्य सुदूर स्वर्ग में रहने वाले और अलग ईश्वर से तो योग किया जाता है, पर हमारे चारों ओर रहने वाली उसकी जीती-जागती प्रतिमाओं को सताया जाता है, ठुकराया जाता है या उनकी अवहेलना की जाती है, तो वह योग बिल्कुल अधूरा और क्षणिक होगा तथा यह बताना कठिन होगा कि ऐसा व्यक्ति अपनी पूजा के फलस्वरूप आध्यात्मिक उन्नति करेगा अथवा अपने क्रियाकलाप या निष्क्रियता के कारण पतन की ओर जायेगा।

सतत-योग स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि धार्मिक कार्यों से ही नहीं, वरन् सांसारिक कार्यों द्वारा भी भगवान् से मिलन किया जाय। यही गीता की सीख है।

'अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है'। 'अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त करता है; क्योंकि इन कर्मों द्वारा वह परमात्मा की ही पूजा करता है, जो सब प्राणियों का रचयिता है और सबमें व्याप्त है'।

तात्पर्य यह है कि कान केवल भजन, कीर्तन और कथा में ही भगवान से सम्पर्क न करें, बल्कि हर दुःखभरी आह में और सहायता के लिये हर प्रार्थना में भी भगवान की ही आवाज सुनें। नेत्र केवल पत्थर की प्रतिमा या तसवीर में ही नहीं, वरन् सब प्राणियों में परमेश्वर का दर्शन करने का प्रयास करें। जिह्वा भगवान का नाम लेकर या गुणगान करके ही अपने को कृतार्थ न मान ले, बल्कि सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलकर भी उस परमात्मा की सेवा करे, जो हमारे साथियों के रूप में हमारे सामने आता रहता है। जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है–'हे भगवन् ! एक ही नमस्कार में मेरी समस्त इन्द्रियाँ फैलकर इस संसार रूपी तेरे चरणों का स्पर्श करें।'

भगवान् के कई महत्वपूर्ण पक्ष हैं। इन सभी से हमें योग स्थापित करना है। सृष्टि के रचयिता से योग तभी हो सकता है, जब उसकी सृष्टि की सेवा की जाय और उसे लोकसंग्रह के कर्मों द्वारा अधिक सुन्दर और सुव्यवस्थित बनाया जाय।

संसार के शासक के रूप में परमेश्वर से योग करने के लिये उसके बनाये हुए नियमों का और उसके द्वारा सौंपे हुए कर्तव्यों का पालन सम्यक् रूप से करना तथा उसके साम्राज्य में अच्छे नागरिक बनकर रहना आवश्यक है।

सभी प्राणियों का पिता, माता और सुहृद् जो परमेश्वर है, उससे योग केवल जप और ध्यान द्वारा नहीं, बल्कि सभी प्राणियों से प्रेमपूर्ण व्यवहार और निःस्वार्थ सेवा द्वारा ही किया जा सकता है।

सारांश यह है कि सतत-योग के आदर्श तक पहुँचने के लिये हमें ईश्वर के साथ-साथ विश्व की भी पूजा सेवा करनी है, न केवल अविनाशी, अगम-अगोचर, निर्विकार परमात्मा की, जिसे कुछ नहीं चाहिये, बल्कि उसकी निर्बल, अपूर्ण, नाशवान्, चलती-फिरती मूर्तियों की भी सेवा-शुश्रूषा करनी है जो सदा हमारे प्रेम और सहायता के लिये भूखी रहती है। गीता में इस योग पर जिसे विभूति-पूजा का नाम दिया गया है-बहुत जोर दिया गया है। जो पुरुष सब भूतों में मुझको और मुझमें सब भूतों को देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और न वह मुझसे कभी अदृश्य होता है। जो पुरुष सब भूतों में-'भूतों के रूप में' मुझको भजता है, वह योगी सब प्रकार के काम करता हुआ भी मुझमें बसता है, योगियों में श्रेष्ठ वह है जो दुसरों के दुःख-सुख को अपने दुःख-सुख के समान ही जानता है।

'पूजा और सेवा के मेल से ही नित्ययोग बन सकता है।' यह भ्रान्ति बड़ी विनशिकारी सिद्ध हुई है कि 'थोड़ी देर की पूजा से भगवान् के साथ पूर्णयोग हो जाता है और मनुष्य भगवान का प्यारा बन जाता है।' इस भ्रान्ति का ही परिणाम है कि देश में ऐसे भक्तों की संख्या बढ़ती जा रही है, जो पूजा-पाठ-सत्संग में बड़े तत्पर रहते हैं; किन्तु आचार-व्यवहार में स्वार्थी, कपटी, बेईमान और क्रूर हैं।

***

संतचरणों की रज जहाँ पड़ती है वहाँ वासना-बीज सहज ही जल जाता है। तब राम-नाम में रुचि होती है और घड़ी-घड़ी सुख बढ़ने लगता है। कण्ठ प्रेम से गद्‌गद होता, नयनों से नीर बहता और हृदय में नाम-रूप प्रकट होता है, यह बड़ा ही सुलभ सुन्दर साधन है, पर पूर्वपुण्य से यह प्राप्त होता है।

भाव-प्रसून

श्रीमती सरिता भारद्वाज

आलोकित कर दो मन मेरा।
जीवन में उल्लास भरो और मार्ग भक्ति से भर दो मेरा।
काम क्रोध मद लोभ हटाकर, मन को शुद्ध करो प्रभु मेरा।
नैराश्य भाव को दूर भगा, आशा से भर दो मन मेरा।
सिद्धयोग में मुझे प्रवृत्त कर, मार्ग योगमय कर दो मेरा।
गगनचन्द्र की भाँति ये तन-मन, ज्योतिर्मय कर दो प्रभु मेरा।
साधन भजन का ज्ञान नहीं, अभ्यास नहीं है प्रभु मेरा।
कदम-कदम कंटक सम्मुख है, मार्ग प्रशस्त करो प्रभु मेरा।
हाथ जोड़ मैं करूँ विनती, कृपा से आँचल भर दो मेरा।

आ जाओ प्रभु बस एक बार।

आ जाओ प्रभु बस एक बार।
दर्शन को अखियाँ हैं प्यासी, रही हूँ इकटक मैं निहार।
आ जाओ.............
जीवन ज्योति बुझन बारी है, आ प्रभु तुम दो इसे बार।
आ जाओ.............
रोग शोक ने आकर घेरा, आ प्रभु इससे दो निकार।
आ जाओ.............
योग-भक्ति में मुझे लगाओ, सब अवगुण दो तुम निकार।
आ जाओ.............
दया कृपा के सागर हो तुम, फिर क्यों मेरी रीती गागर।
आ जाओ.............
करुणा के सागर हो गुरुवर, एक बार तो अब निहार।
आ जाओ.............
किंचित कृपा बिन्दु बरसा दो, बैठी मैं झोली पसार।
आ जाओ.............

प्रभु हम तुमको समझ न पाये

प्रभु हम तुमको समझ न पाए।
तुम मिले हमारा भाग जगा, पर जग कर भी हम जाग ना पाए।
प्रभु..............
गुरु-दर्शन कर भी दर्शन के बिन, वर्ष अनेकों यूँ ही गँवाए।
प्रभु..............
कितनी बार हुआ था ऐसे, सौते भाग जगाने आए।
प्रभु..............
अलख जगाए बार-बार पर, लख कर भी हम लख ना पाए।
प्रभु..............
माया का पर्दा था ऐसा, नैना तुमको समझ न पाए।
प्रभु..............
जनम अनेकों अब तक जानें, कितने रोए कितने गाए।
प्रभु..............
कृपा करो अब गुरुवर ऐसी, जिससे मन में भक्ति जगाए।
प्रभु..............
तब पावन निर्मल गुण निशदिन, भक्ति सहित हम तुम्हें सुनाए
प्रभु..............
जीवन की हर श्वास समर्पित, प्रभु चरणन में अब हो जाए।
प्रभु..............

जो एक प्रभु अपनी नियामक शक्ति के द्वारा सबको नियम में रखते हैं, जो एक अहेतु होते हुए ही सब लोकों की उत्पत्ति और लय करने में समर्थ हैं, उस देव को जो लोग पहचान लेते हैं वे अमृत रूप हो जाते हैं।

महर्षि पतंजलि और योग

लेखक-
श्रीनारायण स्वामीजी

योग और पश्चिमी विद्वान्

कतिपय पश्चिमी और पश्चिमी दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों ने योग को चित्त की एकाग्रता के द्वारा, अन्तःकरण और शरीर से पृथक् हुए आत्मा का साक्षात्कार करना बतलाया है; परन्तु डाक्टर रेले ने योग का लक्षण इस प्रकार किया है-'योग उस विद्या को कहते हैं जो मनुष्य के अन्तःकरण को इस योग्य बना देवे कि वह उच्च स्फुरणों के अनुकूल होता हुआ संसार में हमारे चारों ओर जो असीम संज्ञान व्यापार हो रहे हैं, उनको बिना किसी भी मदद के जाने, ग्रहण करे और पचावे।' डाक्टर रेले ने इस अन्तिम लक्षण को सबसे अधिक अपने अनुकूल समझा है।

महर्षि पतंजलि का योग

इस प्रकार अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से योग के लक्षण किये हैं, परन्तु योगियों के मुकुटमणि योगिशिरोमणि पतंजलि ने योग की परिभाषा इस प्रकार की है- **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः'**। अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों के रोक देने का नाम है।

चित्त की वृत्तियाँ क्या हैं, उनके रोकने का भाव क्या है ? इन प्रश्नों के समझे बिना, परिभाषा का भाव समझा नहीं जा सकता। परन्तु इन प्रश्नों के समझने से पहले यह समझ लेना उपयोगी होगा कि चित्त की इन वृत्तियों के रोकने की जरूरत क्यों होती है।

जीवात्मा और उसका कर्तव्य

योगदर्शन ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है-इनमें से जीव वह है जिसके कर्तव्य में सहायता देने के लिये, इस दर्शन की रचना हुई है। वेद में ईश्वर को **'वाची व्याहृतायाम्'** कहा गया है, अर्थात् ईश्वर रूप वाच्य के वाचक व्याहृति-**'भूर्भुवःस्वः'** हैं। 'भू सत्तायाम्' धातु से 'भूः' सत् के अर्थ में है और 'भुव: अवचिन्तने' धातु से 'भुवः' चित् है और 'स्वतः' आनन्द को कहते हैं-इस प्रकार 'भूर्भुवः स्वः' का अर्थ सच्चिदानन्द है। 'भुर्भुवः स्वः' अथवा 'सच्चिदानन्द' शब्द पर विचार करने से जीव के कर्तव्य का उद्देश्य निश्चित हो जाता है। सत् प्रकृति को कहते हैं, 'सत्+चित्' जीव का नाम है और सच्चिदानन्द ईश्वर को कहते हैं। सच्चिद् जीव की एक ओर प्रकृति का गुण सत् है और दूसरी ओर ब्रह्म का गुण आनन्द है। प्रश्न यह है कि जीव को अपने कर्तव्य का उद्देश्य किसको प्राप्त करना बनाना चाहिये ? सत् जो प्रकृति का गुण है वह जीव को प्राप्त है, इसलिये प्राप्त की प्राप्ति का यत्न व्यर्थ है परन्तु ब्रह्म का गुण आनन्द जीव को अप्राप्त है-इसलिये जीव के कर्तव्य का अन्तिम उद्देश्य आनन्द अथवा आनन्दघन परमेश्वर को प्राप्त करना ठहरता है। अस्तु, जीवात्मा का अन्तिम ध्येय इस प्रकार कहा जा सकता है- 'प्राप्त (प्रकृतिरूप) संसार को इस प्रकार काम में लाना चाहिये कि जिससे वह अन्त में आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति का साधन बन जावे।'

जीव के स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न हैं। जीव के ये ज्ञान और प्रयत्न (कर्म) रूप पुरुषार्थ जीव के बाहर भी काम करते हैं और अन्दर भी। जब वह बाहर काम करता है तब उसका नाम बहिर्मुखी वृत्ति होता है और जब अन्दर काम करता है तब उसका नाम अन्तर्मुखी वृत्ति होता है जीव चूंकि स्वभावतः प्रयत्नशील है इसलिये दोनों वृत्तियों में से एक-न-एक सदैव जारी रहती है। यदि बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होती है तो स्वयमेव अन्तर्मुखी काम करने लगती है और जब अन्तर्मुखी वृत्ति बन्द होती है तब स्वतः बहिर्मुखी वृत्ति अपना काम जारी कर देती है। बहिर्मुखी वृत्ति जब जारी रहती है तब जीव अन्तःकरणों के माध्यम से जगत् में इन्द्रियों द्वारा काम किया करता है, परन्तु अन्तर्मुखी होने पर वह आत्मानुभव और परमात्मदर्शन किया करता है।

योगदर्शन की शिक्षा

महामुनि पतंजलि ने अपने कल्याणकारी दर्शन में उपर्युक्त उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए, इसीलिये यह शिक्षा दी है कि जगत् को इस प्रकार काम में लाओ जिससे यह जगत् भी अधिक-से-अधिक काम की वस्तु सिद्ध हो और अन्तिम उद्देश्य पूर्ति का साधन भी बन सके। इसके लिये उन्होंने दो कर्तव्य बतलाये हैं-

पहला कर्तव्य

पहला कर्तव्य चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करना है। चित्त के एकाग्र होने से संसार अधिक-से-अधिक समुखदायक बन सकता है।

सांसारिक सुख का कारण

सांसारिक सुख का निदान करने से पता लगता है कि सुख न अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट भोजनों में है, न अच्छी-अच्छी कीमती पोशाकों के पहनने में और न संसार के अन्य विषय में। सुख, असल में, चित्त की एकाग्रता में है- जिस विषय के साथ चित्त एकाग्र हो जाता है वही विषय सुखदायी प्रतीत होने लगता है और जिस विषय के साथ चित्त नहीं लगता वह रूखा-सूखा निस्सार-सा प्रतीत होने लगता है। एक मनुष्य अपने अनुकूल, अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन करते हुए उसका आनन्द ले रहा है परन्तु अचानक अपने इकलौते पुत्र के अत्यन्त रोगग्रस्त हो जाने की खबर सुनने और चित्त के, भोजन से हटकर, पुत्र की स्मृति की ओर चले जाने से अब वह भोजन सुखदायी नहीं रहा, अब उसका एक-एक ग्रास गले में अटकता है-कारण स्पष्ट है, अब चित्त भोजन के साथ नहीं रहा। योगदर्शन ने चित्त की एकाग्रता की उपयोगिता बतलाते हुए यह शिक्षा दी है कि उसे इस प्रकार काम में लाना चाहिये जिससे उसका मुँह निरुद्ध होने की ओर फेरा जा सके।

चित्त का निरोध क्यों होना चाहिये ?

जब तक एकाग्र रहता है तब तक चित्त की वृत्तियाँ अपने काम में लगी हुई रहती हैं और तत्परता के साथ अपना काम करती रहतीं-यहाँ तक आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति ही काम करती है। चित्त की एकाग्रता बहिर्मुखी वृत्ति की सीमा के अन्तर्गत ही है, परन्तु उद्देश्य अन्तर्मुखी वृत्ति को जागृत करना है। परन्तु उसके जागृत करने या काम में लाने के साक्षात् साधन अज्ञात हैं, इसलिये असाक्षात् साधन यह है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध करके बहिर्मुखी वृत्ति का काम बन्द कर दिया जावे- इसीलिये योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोध का

विधान किया गया है। बहिर्मुखी के बन्द हो जाने से अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव काम करने लगती है।

चित्त और उसकी वृत्तियाँ

चित्त को यदि एक सरोवर मानें तो उस सरोवर में उठी हुई लहरों को चित्त की वृत्तियाँ मानना पड़ेगा। इस चित्त रूपी सरोवर का एक किनारा बुद्धि से मिला हुआ आत्मारूपी गंगा की ओर है और उसका दूसरा विरोधी किनारा इन्द्रियों से मिला हुआ जगत् की ओर है। चित्त रूपी सरोवर में उठने वाली वृत्ति रूपी लहरें पाँच प्रकार की हैं–

(१) प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (आप्तोपदेश)।

(२) विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान।

(३) विकल्प अर्थात् वस्तुशून्य कल्पित नाम।

(४) निद्रा अर्थात् सोना।

(५) स्मृति अर्थात् पूर्वश्रुत वा दृष्ट पदार्थों का स्मरण।

चित्त की जितनी भी अच्छी या बुरी वृत्तियाँ हो सकती हैं वे सब इन्हीं पाँच प्रकारों के अन्तर्गत हुआ करती हैं। इन वृत्तियों को समष्टि रूप से अच्छा या बुरा नहीं कह सकते।

भाव यह है कि पुल के फाटकों में से वे फाटक बन्द हो गये जिनमें होकर गंगा का (बहिर्मुखीरूपी) जल गंगा की नहर रूपी जगत् में जाया करता था–इसका मतलब यह हुआ कि चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से अब आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति बन्द हो गयी। इसका अनिवार्य परिणाम यह निकला कि आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हो गयी। गंगा का जल यदि नहर में न जायेगा तो आवश्यक है कि वह अपनी धारा में बहे। बस, योग के अद्वितीय आचार्य महामुनि पतंजलि का आशय, इस योगदर्शन की रचना से, केवल इतना ही था कि चित्त की वृत्तियों के निरोध द्वारा आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति को बन्द करके उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति को जागृत कर दें। योगदर्शन की समस्त क्रियाएँ इसी परिणाम पर पहुँचाने के अचूक साधन हैं।

***

आध्यात्मिक सुख का महत्व

मानव जीवन की सार्थकता और कृतकृत्यता आध्यात्मिक सुख-शान्ति में है। उसके लिए सदैव जागरुक रहना चाहिये। चित्त का संशोधन अनेक उपायों से करना चाहिये। परदोष, परनिन्दा, परस्वापहरण की भावनाओं से जो आज मानव को दानव बना रही है, बचना चाहिये। असत्य भाषण का अवरोध और सत्य भाषण की चेष्टा सदैव करनी चाहिये, तभी मनुष्य अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकता है और मानव शरीर की सफलता प्राप्त कर सकता है। अन्यथा 'तस्यामृतं क्षरति हस्तगतं प्रमादात्' के अनुसार मानव अमृत के हस्तगत घट को अपने हाथ से गिराकर प्रमाद का परिचय देगा। अतः आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिये।

गुरुतत्व—आगमिक दृष्टि

(लेखक—आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में गुरु की महिमा अनन्त है। ईश्वर के बाद उसी की मान्यता है। साधक का चक्षु अज्ञान-तिमिर से बन्द है। ज्ञान रूपी अञ्जन की शलाका से गुरु उस दोष को हटाकर परमात्म-साक्षात्कार कराता है। इससे साधक के अन्तर्नेत्र खुल जाते हैं और वह इन्द्रियातीत विषयों को भी जानने में सफल हो जाता है। इसलिये गुरु की महिमा के सम्बन्ध में पुराणों में कहा गया है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

(नारदपुराण १/६५/५६)

शास्त्र की दृष्टि में गुरु मानव होकर भी देवाधिदेव का स्वरूप प्रस्तुत करता है। गुरु ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर है। किमधिकम्, वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का ही रूप है। अतएव वह सभी प्रकार वन्दनीय है। तन्त्रराज की वाणी है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

(देवी भाग० ११/१४१ गर्गसंहिता ४/१/१४)

आगमों की दृष्टि में शिव ही गुरु के पूर्ण आदर्श हैं। 'मानस में भगवती पार्वती की उक्ति है'—'**तुम त्रिभुवनगुरु बेद बखाना**'। शिव गुरु आदि, नित्य एवं विश्व के परमगुरु हैं। वे सच्चिदानन्द स्वरूपा है। उनमें विराजमान नित्य शक्ति भी सच्चिदानन्दस्वरूपा है। शिव निष्क्रिय द्रष्टा और कर्ता है। शक्ति उनके साथ पूर्णरूपेण अभिन्न होने पर भी दृष्टिस्वरूप और कारण रूप है। सृष्टि के पूर्व शिव और शक्ति में किसी प्रकार का अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु सृष्टि के पश्चात् यह पार्थक्य दृष्ट होता है। द्वैतदृष्टि से विचार करने पर जीव अनादि काल से अणु के रूप में विद्यमान रहता है। आरम्भ से ही जीव के ऊपर एक आवरण चढ़ा रहता है, जिससे उसका विभुत्व (व्यापकत्व) सदा आच्छादित रहता है। तत्वतः तो शिव और जीव में सर्वथा अभेद है, परन्तु मलावरण के कारण दोनों में भेद प्रतीत होता है। यही आवरण जीवत्व अथवा दूसरे शब्द में पशुत्व कहलाता है। यह अनादिकाल से जीव के साथ लगा है, जिससे जीव अपना विभुत्व भूलकर अपने को 'अणु' (अत्यन्त छोटा व्याप्य) समझने लगता है। अतः यह आगमों में 'स्वरूपप्रच्छादन' की संज्ञा देते हैं; उनका वचन है—

देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुरनेककः।।

(तन्त्रालोक, भाग ८/१३/१०३)

'शिव तत्व वस्तुतः स्वतन्त्र, चिद्रूप, स्वभाव से ही प्रकाशात्मा विभु और एक है, परन्तु अपने स्वरूप के प्रच्छादन की क्रिया के योग से ये अणु हो जाते हैं और अनेक रूप धारण करते हैं। यदि यह आवरण न रहता तो जीव भी अपने को शिवरूप में ही जानता, पशु रूप में नहीं।' इसी आवरण के समान कहीं-कहीं एक दूसरा ही आवरण इसके ऊपर दृष्टिगोचर होता है जिसे 'कर्म' कहते हैं। इस आवरण के ऊपर भी एक दूसरे मल की सत्ता

दृष्टिगोचर होती है, जिसे मायीय मल कहते हैं। इस मायीय मल के द्वारा कोई पुरुष किन्हीं कार्यों को शुभ समझकर उनके सम्पादन की ओर अग्रसर होता है और किन्हीं को अशुभ समझकर उनसे हटता है; वही 'शुभाशुभ वासना' का मर्ण मल के नाम से हटता है; वही 'शुभाशुभ वासना' का मर्ण मल के नाम से अभिहित होती है, जिसका दूसरा नाम बन्धन है। इसी बन्धन से जीव को उन्मुक्त करने वाला व्यक्ति 'गुरु' कहलाता है।

अभिनवगुप्त ने 'मोक्ष' के स्वरूप के विषय में कहा है–

'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।'

स्वरूप-प्रथन को ही तन्त्रशास्त्र मोक्ष कहता है, **'स्वस्वरूपप्रथन'** का अर्थ है–शिव के यथार्थरूप की प्रतीति। शिव की सर्वतोमहनीया शक्ति है–स्वातन्त्र्य शक्ति। इसी स्वातन्त्र्यशक्ति से सम्पन्न शिवरूप की प्रतीति ही वस्तुतः प्रथम है। इस दशा में साधक अपने को शरीर, मन, बुद्धि, प्राण से उत्तीर्ण (पार) कर शुद्ध प्रकाश विमर्शरूप संवित् का अनुभव करता है। यही मोक्ष है। 'परमार्थसार' में मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है–

मोक्षस्य नैव किंचिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः।।

(परमार्थसार, ६० वीं कारिका)

मोक्ष का न कोई धाम है और न कहीं अन्यत्र गमन होता है; अज्ञान की ग्रन्थि को भेदन करने से जो स्वशक्ति की अभिव्यक्ति होती है, वही मोक्ष है। फलतः यथार्थ गुरु-कर्त्तव्य साधक के हृदय में विद्यमान अज्ञान की ग्रन्थि को खोलकर उसके शिवत्व को पूर्ण अभिव्यक्त कराना है। अथवा परामुक्ति से पूर्णत्व प्राप्त कराना है।

आचार्यों का कथन है कि आगमसम्मत परामुक्ति ही पूर्ण है। आगम के मत में न तो सांख्य का कैवल्य पूर्णत्व है और न वेदान्त का निर्वाण ही। द्वैतागम एवं अद्वैतागम दोनों में इसका समर्थन मिलता है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ वेदान्त की मुक्ति को संवेद्य प्रलयकाल की अवस्था के सदृश मानते हैं। वे इस मुक्ति को 'विज्ञान कैवल्य' के समान नहीं मानते। इससे अनुमान होता है कि वेदान्त की मुक्ति में आणवमल पूर्णरूप से वर्तमान रहता है; यह ध्वंसोन्मुक्त नहीं होता ! परन्तु 'विज्ञानकैवल्य' में आणवमल ध्वंसोन्मुख तो होता ही है, कर्म न होने के कारण 'विज्ञानकेवली' की पुनरावृत्ति भी नहीं होती। आणवमल के ध्वंसोन्मुख होने के कारण उससे कर्मों की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। वेदान्तानुसार मोक्ष में पुनरावृत्ति नहीं होती। **'न च पुनरावर्तते'** (छा.उ.८) **'अनावृत्तिः शब्दात्।'** (४/४/२२) द्वैतवादी वैष्णवों के अनुसार मुक्ति प्रलयकाल की तरह की है। उस स्थान में दीर्घकाल तक भोग होता है। फिर नयी सृष्टि में जन्म होता है। न्यायादि का अपवर्ग आत्मा के सर्वविशेषोच्छेद होने के कारण अपवेद्य प्रलयकाल के सदृश है। फलतः आगमसम्मत परामुक्ति में ही पूर्णत्व है।

लोक में नेत्र-सम्पन्न व्यक्ति ही गन्तव्यमार्ग को स्वयं देख सकता और दूसरों को भी मार्ग-दर्शन करा सकता है। इस प्रकार अध्यात्म जगत् में भी गुरु को ज्ञाननेत्र-सम्पन्न होने की नितान्त आवश्यकता रहती है। श्रुति स्पष्ट कहती है–**'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्**

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' अतः गुरु को परोक्ष एवं अपरोक्ष उभयविध ज्ञान-सम्पत्ति से पूर्ण रहना चाहिये। ऐसा ही गुरु लौकिक एवं शास्त्रीय शंकाओं को दूरकर अज्ञान-तिमिर का भेदन कर सकता है। इस ज्ञानशक्ति के साथ ही जगद्‌गुरु में इच्छा एवं क्रियाशक्ति का रहना भी आवश्यक होता है। दूसरे के दुःख दूर करने की जो इच्छा है–इसे ही कृपा या करुणा कहते हैं। ज्ञानी होकर भी जो व्यक्ति कृपा-रहित है, वह गुरुत्व से सम्पन्न नहीं माना जा सकता। कृपा ही गुरुत्व की प्रवर्तिका होती है, परन्तु इच्छाहीन में करुणा कहाँ ? इसी प्रकार ज्ञानी में केवल इच्छा से ही कार्य नहीं होता, यदि उसमें इस इच्छा को सफल बनाने की सामर्थ्य न हो। इच्छा भी अप्रतिहत होनी चाहिये। तभी वह क्रिया के रूप में स्थूलरूप धारण कर सफल होती है। ज्ञानी होने मात्र से ही गुरु की योग्यता नहीं होती– यदि उसके हृदय में दुःखी व्यक्ति के दुःखों को दूर करने की करुणा का उदय न हो। बौद्ध दर्शनानुसार बोधिसत्व में भी ज्ञानपर मितता का सद्भाव रहता है; परन्तु पूर्ण बुद्धत्व प्राप्ति के लिये उसमें करुणा का उद्रेक आवश्यक है। 'करुणा' की प्रेरिका शक्ति ही उसे उपदेश देने के लिये अग्रसर करती है, अन्यथा समस्त ज्ञान को धारण करने वाला व्यक्ति भी मात्र धरोहर की तरह अपने में ही ज्ञान को संजोये रहता है। 'करुणा' के उदय लेने पर ही बोधिसत्व बुद्ध रूप को प्राप्त कर उपदेशादि–जगत् के कल्याण के साधन में तत्पर होता है। निष्कर्ष यह कि यथार्थ गुरु में प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इच्छा एवं क्रिया का योग रहना चाहिये। ऐसे गुणों से–ज्ञान, इच्छा, क्रियादि से युक्त ही शास्त्रों में 'सद्‌गुरु' या आप्तपुरुष कहे गये हैं। ऐसे व्यक्ति को **'सांसिद्धिक गुरु'** कहते हैं। उनमें स्वतः ही सत्ता का उदय होता है। उनके सारे बन्धन ढीले हो जाते हैं और उनमें पूर्ण शिवत्व का आविर्भाव हो जाता है। ऐसे पुरुषों के लिये स्वयं कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। वे अपने-आप में कृतकृत्य हो जाते हैं। दूसरे पर अनुग्रह करना ही उनका एकमात्र प्रयोजन रहता है। ऐसे व्यक्ति के स्वरूप का निरूपण शास्त्र इस प्रकार करता है–

स्वं कर्तव्यं किमपि कलयन् लोक एक प्रयत्नात्
नो पारक्यं प्रतिघटयते कांचनस्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटरमिदं लोककर्तव्यमात्रम्।।

'योगसूत्र' के भाष्यकार व्यास का ईश्वर के विषय में कथन इस सांसिद्धिक गुरु के विषय में भी चरितार्थ होता है–**'तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्'**–आत्मानुग्रह के अभाव होने पर भी भूतानुग्रह–प्राणियों पर अनुग्रह करना ही उसका प्रयोजन होता है।

यह अनुग्रहशक्ति भी गुरुत्व का एक वैलक्षण्य है। अनुग्रहशक्ति के स्वरूप जानने के लिये उसके विलोम 'निग्रहशक्ति' के रूप को जानना नितान्त आवश्यक है। आगमशास्त्रों में परमेश्वर के पाँच कर्म प्रसिद्ध हैं। ये हैं– 'सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं निग्रह।' निग्रह का अर्थ तिरोधान है। सृष्टि होने से पहले निग्रह या तिरोधान की प्रक्रिया किसी-न-किसी रूप में अवश्यमेव होती है। निग्रह या तिरोधान शब्द आत्मस्वरूप के आच्छादन के लिये आगमशास्त्रों में व्यवहृत होता है। अद्वैतमत में एक अद्वितीय परमेश्वर के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं

मानी जाती। इस प्रकार शिव भाव से जो विभुआवरण के कारण अणु के रूप में संकुचित हो गया है, उसको अनुग्रहशक्ति के द्वारा शिवत्व की प्राप्ति करा देना ही गुरु का उदात्त दायित्व है। अपनी अनुग्रह शक्ति से जीव को बन्धन मुक्त कराकर 'स्वरूप' तथा मुक्ति से सम्पन्न करने वाला व्यक्ति ही गुरु की गौरवशाली महिमा से मण्डित होने योग्य होता है।

दक्षिणामूर्ति का रहस्य

भक्तों को अद्वैततत्व का उपदेश देने के लिये भगवान् शिव द्वारा परिगृहीत गुरुरूप को 'दक्षिणामूर्ति' कहा गया है। दक्षिणामूर्ति के स्वरूप तथा उपासना के प्रतिपादक 'दक्षिणामूर्ति संहिता' आदि कई ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त इस नाम की एक स्वतन्त्र उपनिषद् भी है। इसमें 'दक्षिणामूर्ति' पद की व्याख्या इस प्रकार है-

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्।
दाक्षिण्याभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः।।

यहाँ 'बुद्धि' को ही 'दक्षिणा' कहा गया है। यह बुद्धि जिस के साक्षात्कार करने में प्रमुख साधन हो, उस शिव को ब्रह्मवादिगण 'दक्षिणाभिमुख' अर्थात् दक्षिणामूर्ति के नाम से पुकारते हैं। भारत में इन दक्षिणा मूर्ति बड़ी सुन्दर तथा आकर्षक पाषाण-प्रतिमाएँ मिलती हैं। उनके रूप के ध्यान का वर्णन-परक यह पद्य नितान्त प्रख्यात है-

स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमाला-
ममृतकलशविद्याज्ञानमुद्राः कराग्रैः।
दधतमुरगकक्षं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे।।

(दक्षिणामूर्ति उप० ३)

'दक्षिणामूर्ति का वर्णन स्फटिक तथा रजत के समान शुभ है। वे हाथों में मोतीयुक्त रुद्राक्षमाला, अमृत-कलश, विद्यामुद्रा एवं ज्ञानमुद्रा धारण करने वाले हैं। उनकी कटि में साँप का वेष्टन है तथा जटाजूट में चन्द्रमा विराजमान हैं। वे अन्य अंगों में भी विविधभूषणों को धारण किये हुए हैं। मैं ऐसे दक्षिणामूर्ति की स्तुति करता हूँ।'

आद्यशंकराचार्य ने 'दक्षिणामूर्ति' की प्रशंसा में 'दक्षिणामूर्ति-वर्णमाला-स्तोत्र' एवं 'अष्टक'-इन दो स्तोत्रों की रचना की है। इनमें गुरुमूर्ति शिव का रूपप्रतिपादक स्तोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस पर अनेक अद्वैताचार्यों की टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। एक पद्य इस प्रकार है-

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात् कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्री गुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये:।।

(दक्षिणामूर्तिस्तोत्र १)

'निद्रा की अवस्था में (स्वप्न में) दीखने वाले पदार्थों के समान यह समग्र विश्व आत्मा में ही प्रतिभासित होता है, जिस प्रकार दर्पण में दीखने वाली नगरी प्रतिबिम्ब रूप से दृष्टिगोचर होती है। आत्म-साक्षात्कार रूप जाग्रत अवस्था में **'एकमेवाद्वितीयम्'** ब्रह्म का जो साक्षात्कार करता है, ऐसे गुरुमूर्तिधारी दक्षिणामूर्ति को नमस्कार है।' इस पद्य में निद्रा तथा जागरण दोनों दशाओं की तुलना के द्वारा अद्वैत तत्व का निरूपण किया गया है।

इन दक्षिणामूर्ति के चार भेद हैं-वीणाधर, योग, ज्ञान और व्याख्यानमूर्ति। इन चारों के विभिन्न रूप तथा आकृतियाँ प्रस्तरों में अंकित मिलती हैं। (१) वीणाधर मूर्ति चार भुजावाली

होती है; वह खड़ी रहती है तथा भक्तों को वीणावादन सिखलाती है। (२) योगमूर्ति-ध्यानस्थ मुद्रा में बैठी रहती है और भक्तों को अपने दर्शन से योग की शिक्षा देती है। (३) ज्ञानमूर्ति ज्ञान की शिक्षा देने के लिये होती है। (४) व्याख्यानमूर्ति शास्त्रों के उपदेश के निमित्त धारण की जाती है। अन्तिम दोनों मूर्तियाँ वीरासन धारणकर ज्ञान तथा व्याख्यान की मुद्राओं का प्रदर्शन करती हुई भक्तों को तत्तत् विषयों का उपदेश देती हैं। उपरिनिर्दिष्ट मूर्तियों की उपलब्धि दक्षिण भारत में विशेष रूप से होती है। जगन्नाथपुरी में वीणाधर दक्षिणामूर्ति प्राप्त है। विष्णुकांची में योग **दक्षिणामूर्ति** है। योगपट्टधारण करने के कारण इस मूर्ति को पहचानने में कोई संदेह नहीं रहता। इसके दाहिने हाथ में तर्कमुद्रा प्रदर्शित है। मूर्ति के चारों ओर अनेक ऋषिलोग बैठकर योगविद्या सीख रहे हैं–यह दिखाया गया है।

'दक्षिणामूर्त्युपनिषद्' अष्टोत्तरशत उपनिषदों के समूह में ५१ वीं संख्या पर आबद्ध है। इसमें शिवतत्व के उपदेष्टा गुरु के अद्वैतसिद्धान्ती उपदेशों का वर्णन किया गया है इस देवमूर्ति की आराधना के निमित्त आगमों में अनेक मन्त्र भी दिये गये हैं। इनमें **'ॐ ब्रूं नमः– दक्षिणापदमूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा'**–यह १८ अक्षरों का मन्त्र सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।

कांची में विराजमान उपरिनिर्दिष्ट दक्षिणामूर्ति का निर्माण **'दक्षिणामूर्त्युपनिषद'** के निम्नलिखित पद्य के आधार पर सम्पन्न किया गया प्रतीत होता है–

भस्म व्यापाण्डुरांगः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमाला वीणापुस्तैर्विराजत्करकमल धरो योगपट्टाभिरामः। व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः सव्यालः कृत्तिवासाः सततमवतुनो दक्षिणामूर्तिरीशः।

दक्षिणामूर्ति रूप वाले भगवान् शंकर का यह व्याख्यान शब्दों के माध्यम से नहीं होता, जैसा साधारणतः जगत् में होता है, प्रत्युत यह मौन व्याख्यान है। व्याख्या पीठ पर विराजमान गुरु को शब्दों के द्वारा अद्वैत तत्व के उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत उनके दर्शनमात्र से ही शिष्यों के हृदयस्थ संदेह स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसी तत्व को दृष्टि में रखकर सच्चे गुरु के विषय में यह प्राचीन सूक्ति है–

'गुरोस्तु मौनव्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।'

शारीरकभाष्य में शंकराचार्य ने वाष्कलि बाध्वऋषि के प्रसंग में इस तथ्य की अभिव्यक्ति की है'। वाष्कलि बाध्वऋषि वाष्कलि गुरु के पास ब्रह्मोपदेश के लिये गये, तब गुरु बाध्व ने अपना उत्तर शब्दों के द्वारा न देकर केवल मौन का आश्रय लिया। बाध्व ने तीन बार प्रश्न किया, तब गुरु (वाष्कलि) ने कहा कि मैं तो आपके प्रश्न का उत्तर प्रति बार दे रहा हूँ– **'उपशान्तोऽयमात्मा'**–आत्मा शान्तस्वरूप है, इसके उपदेश के लिये शब्द का माध्यम अकिंचित्कर है। ठीक ही है–

यन्मौनव्याख्यया मौनिपटलं क्षणमात्रतः।
महामौनपदं याति स हि मे परमा गतिः।।

***

मंजुला ने जानी गुरुमंत्र जप की महिमा

लेखक-राजेश कुमार श्रीवास्तव

ब्रज क्षेत्र के एक सुन्दर गाँव में एक सिंह साहब निवास किया करते थे। सभी ग्रामवासी उन्हें स्नेहपूर्वक सिंह साहब ही कहकर पुकारते थे। वे बड़े ही धार्मिक विचारों के व साधु-सन्तों का सम्मान करने वाले थे। उनकी बड़ी लड़की का नाम 'मंजुला' था। माता-पिता दोनों ने मिलकर बहुत अच्छे संस्कार मंजुला को दिये थे। मंजुला बचपन से ही माता-पिता के आदर्शों पर चला करती थी। 'मंजुला' को ईश्वर में स्वाभाविक ही प्रेम था। श्री कृष्ण उसे बहुत अच्छे लगते थे। आस-पास के गाँवों में या अपने ही गाँव में कहीं कथा-भागवत आदि धार्मिक आयोजन होते तो सिंह साहब वहाँ अपनी बेटी मंजुला को अवश्य ले जाते थे ताकि उसमें धार्मिक संस्कार दृढ़ हों और ईश्वर प्रेम की भावना को बल मिले। वे ऐसा मानते थे कि जीवन के अत्यधिक कष्ट के दिनों में ईश्वर का प्रेम ही कष्ट सहने की अद्‌भुत शक्ति और ज्ञान प्रदान करता है।

एक दिन सिंहसाहब स्वच्छ कपड़े पहन कर कहीं जाने की तैयारी में लगे थे। १२ वर्ष की मंजुला तुरन्त ताड़ गई कि अवश्य वे किसी अच्छी जगह जा रहे हैं। वह आँगन में से चिल्लायी-

-कहाँ जा रहे हो पिताजी ?

-बेटी ! पास के एक गाँव में एक जगह बड़े ऊँचे वैरागी महात्मा आऐ हैं, वे बड़े विद्वान हैं राम कथाओं का आधार लेकर वे मानव व्यवहार को सुधारने की सुन्दर प्रेरणाएँ प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य को मनुष्य का शत्रु या मित्र बनाने वाला केवल उनका 'पारस्परिक व्यवहार' होता है। उन्हीं को सुनने जा रहा हूँ तू चलेगी क्या ?

-हाँ, पिताजी मुझे जरूर ले चलना, आप चुपचाप मत निकल जाना। वह झटपट तैयार होकर आ गई। दोनों थोड़ी ही देर में एक खुले स्थान पर पहुँच गये वहाँ एक सुन्दर तख्त पर एक वयोवृद्ध महात्माजी विराजमान थे। गाँव के चालीस-पचास लोग उन्हें ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। महात्माजी का मुखमण्डल ईश्वरीय आभा से युक्त था। दोनों उन्हें प्रणाम करके बैठ गये। महात्मा जी अपने प्रवचन में कह रहे थे-

अपने मद में चूर एक अहंकारी व्यक्ति अपने विरोधी को नीचा दिखाकर सुख पाने की लालसा नीचता की किस हद तक गिर सकता है-सभ्य व्यक्ति इस बात की कल्पना नहीं कर सकता।

अपनी बहन के अपमान का बदला लेने के लिए रावण माता सीता का अपहरण कर ले गया। जंगलों में भटकते विवश भगवान राम के साथ, रावण जैसे मदान्ध ऐश्वर्यवान राजा ने घोर नीचता का व्यवहार किया। माता सीता जो अयोध्या की लाज कही जाती हैं उनके अपहरण से केवल श्रीराम को ही नहीं, राजा दशरथ के पूर्वजों और अयोध्या के तुच्छ से तुच्छ जीव-जन्तुओं तक को अपमानित होना पड़ा। ऐसी दशा में माता सीता ने पूर्ण पतिव्रता धर्म का पालन किया वे भले ही विवश होकर पर पुरुष के स्थान अशोक वाटिका में रह रहीं थी किन्तु उनका मन हर समय भगवान

राम के चिन्तन में लीन रहता था। हर स्त्री को अपने पति की सेवा, उनका आदर और चिन्तन करना चाहिए। पत्नी कभी पति को दुःख न पहुँचावे तथा पति अपनी पत्नी को न सतावें। दोनों को प्रेम पूर्वक रहना चाहिए। जब दोनों में अटूट पारस्परिक प्रेम होता है तो वह प्रेम घर को स्वर्ग में बदल देता है। जिस स्त्री में स्त्री अपने पति के होते हुये भी, पर पुरुष में आसक्त रहती है अथवा बात-बात पर अपने पति से कलह करती है उस घर में किसी भी प्रकार सुख की कल्पना नहीं की जा सकती। यही बात पुरुष के लिए भी है।

गुरुवाणी

देखो, मनु महाराज का वचन है–

संतुष्टो भार्यया भर्त्ता, भार्या भर्त्ता तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं सर्वम् तद रोचते गृहम्।।

अर्थात् जिस परिवार में पत्नी से पति खुश रहता है और पति से पत्नी प्रसन्न रहती है तो वहाँ सब प्रकार से सुख-सम्पत्ति का वास रहता है, लक्ष्मी बरसती है और किसी प्रकार की बीमारी नहीं आती है। तथा उत्तम संतान की प्राप्ति होती है किन्तु घर में यदि रोग कलह रहता है, द्वन्द्व मचता है तो निश्चित जान लो कि दरिद्रता आयेगी, बीमारियाँ बढ़ेगी, सन्तान भी अच्छी नहीं होगी। इसलिए घर गृहस्थी में साधक को परस्पर प्रेम से रहना चाहिए।

मंजुला ने बड़े ध्यानपूर्वक महात्माजी का प्रवचन सुना। प्रवचन समाप्त होने पर दोनों खुशी-खुशी अपने घर लौट आये। धीरे-धीरे मंजुला बड़ी होती गई। विवाह से पूर्व एक दिन एक दिव्य घटना घटी। उसने स्वप्न में भगवान शिव के स्पष्ट दर्शन किये। बाद में उसे ज्ञात हुआ कि संस्कारी बच्चों के साथ ऐसी घटनाएँ अकसर घटित होती रहती हैं। मंजुला ने बचपन से ही अनेक शिव भक्तों को दर्शन हेतु अनेक प्रकार की उपासनाएँ करते देखा था ! उसे बिना ही उपासना के सरलता से दर्शन हुये वह हर्षातिरेक में यह घटना सबको बताती फिरी। पिताजी ने स्नेह से बुलाकर समझा दिया देखो बेटी, इस प्रकार की घटनाएँ भगवान के प्यारे बच्चों के साथ ही घटा करती हैं तुम्हें यह बात गुप्त रखी चाहिए। अब किसी से मत कहना।

इस घटना से बहुत समय पूर्व जब मंजुला बहुत छोटी थी, तब उसे स्वप्न में माँ दुर्गा के दर्शन हुये। वह इतनी डर गई कि बीमार पड़ गई।

माता-पिता ने ठीक घर-परिवार देखकर मंजुला का विवाह कर दिया। ससुराल जाने से पूर्व माँ ने समझाया–"कितना भी संकट पड़े बेटी ! किन्तु दूसरों के सामने मत रोना अपने ईश्वर के ही सामने रोना अपना सुख-दुख उनको ही अर्पण करना। दुनिया वाले मदद तो कर देते हैं किन्तु बाद में अपने मनमाने ढंग से शोषण करते हैं।" पिताजी मंजुला के आचरण पर बहुत ध्यान देते थे। वे कहते थे– "लड़की को पराये घर जाना होता है उसके अच्छे आचरण से ही रिश्तेदारी में माता-पिता की इज्जत बनती है।

मंजुला का यह दुर्भाग्य था कि उसके विचारों से उसके पति के विचार बिल्कुल भिन्न थे। उसका जीवन छोटे भाई के आश्रित था हर बात में वह अपने भाई को ही आगे रखता था, मंजुला को वह कोई इज्जत नहीं समझता था।

मंजुला के देवर की दृष्टि उसके प्रति अच्छी नहीं थी। मंजुला उसकी कुभावना को अच्छी तरह समझती थी मंजुला को सन्तान कुछ देरी से हुई। देवर ने एक दिन मंजुला से कह दिया। भाई के भरोसे रहोगी तो सब उम्र निकल जायेगी संतान का सुख तो केवल मैं ही तुम्हें दे सकता हूँ। मंजुला यह सुनकर आग बबूला हो गई उसने देवर को मुँह तोड़ जबाव दिया-''निःसन्तान रह लूँगी लेकिन पति के साथ विश्वासघात नहीं करूँगी।'' उसने अपने पति से शिकायत की किन्तु उसने कह दिया छोटा भाई है उसने यदि ऐसा कुछ कह दिया तो क्या हो गया ? अपने बड़े भाई के सीधे स्वभाव का लाभ उठाकर, उसके मदान्ध देवर ने उसे डरा-धमका कर उससे अपनी बात मनवाने की कई बार कोशिश की किन्तु वह मंजुला उसकी धमकियों में नहीं आयी। उसने देवर की मनोइच्छा (वासना) को ठुकरा दिया। उसे हिन्दू नारी धर्म मर्यादा का ज्ञान था। इस बात पर मंजुला के देवर ने अपना इतना अपमान महसूस किया कि उसने उसका जीवन तार-तार कर डाला। मंजुला को कष्ट पहुँचाने के लिए उसने अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ की। वह चाहता था कि मंजुला परेशान होकर उसके आगे गिड़गिड़ाये पूरे घर में केवल चलती भी उसी की थी। घर में रोज-रोज झगड़े और कलह का वातावरण बना रहता। देवर मंजुला के हृदय को जलन पहुँचाने की पूरी कोशिश करता।

समय ने करवट ली कुछ अच्छा समय आया। मानसिक तनावों की स्थिति में ही मंजुला ने दो लड़के और लड़कियों को जन्म दिया। इस बात से देवर के हृदय में ईर्ष्या की आग और भड़कने लगी। परिवार के कलहपूर्ण वातावरण में सबका जीवन बर्बाद होता रहा।

देवर अपनी पत्नी के साथ धौलपुर में रहने लगा था। जब भी भाई के घर आता तो घर में कुहराम मच जाता। देवर की बातों में आकर मंजुला का पति भी उसके साथ पशुवत् व्यवहार करता। देवर के हृदय में हर समय बदले की आग धधकती रहती। मंजुला का एक भाई अक्सर उसकी मुसीबत में उसकी सहायता कर दिया करता था। मंजुला की कोई भी खुशी, देवर के मन को जला डालती थी। वह हर समय मंजुला के परिवार के अनिष्ट का चिन्तन करता रहता वह मंजुला के बच्चों पर तंत्र कराने लगा। मंजुला के घर की बर्बादी को उसने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया।

स्वाभिमानों की लड़ाई में कई वर्ष बीत गये। किन्तु ईर्ष्या-द्वेष प्रतिशोध की जड़ें और मजबूत होती गई। मंजुला के बच्चे सभी बड़े हो गये थे। दुष्टों का संग कभी अच्छा नहीं होता। सादा सरल चित्तवृत्ति के लोग भी अन्ततः दुष्टों के व्यवहार से दुखी होकर दुष्टों जैसा ही व्यवहार करने के लिए विवश हो जाते हैं। क्रोध और तनाव की स्थिति में मन की एकाग्रता को बहुत नुकसान पहुँचता है। इसके अतिरिक्त क्रोध में दुष्ट व्यक्ति का चिन्तन हर समय बना रहने से दुष्टों के दुर्गुण सूक्ष्म रास्ते से धीरे-धीरे शान्त चित्तवृत्ति के लोगों में इकट्ठे होते जाते हैं। ऐसी दशा में ध्यान-भजन की

स्थिति बन पाना सम्भव ही नहीं हो पाता। मंजुला का चित्त झगड़ों के कारण देवर के दुर्गुणों के ही चिन्तन में हर समय लगा रहता। क्रोध-तनाव हर समय बना रहता। दुष्ट प्रकृति के अधार्मिक व्यक्तियों से सदा बचे रहने के लिए महायोगी संत श्री तुलसीदास जी कहते हैं-

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ, भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ।
तिन्ह कर संग सदा दुःख दाई, जिमि कपिलहि घालई हरिहाई।

ईश्वर की महान कृपा से मंजुला के मन में अपने देवर के अनिष्ट की कोई भावना नहीं थी किन्तु देवर के तीखे- कड़वे वचनों से उसके हृदय में भारी जलन होती थी। अनेक लोगों ने दुष्ट देवर से बचने के लिए अनेक मुल्ला-मौलवी, मजार-सइयद, तान्त्रिक, डोरा-ताबीज आदि के अनेक रास्ते उसे बतलाये किन्तु उसने किसी के भी पास जाना उपयुक्त नहीं समझा। मंजुला के दुःखी मन को किसी सच्चे महापुरुष के दर्शन की प्रतीक्षा थी जो उसे अपने ही लोगों की घुटन और वेदना भरी कारागार से मुक्त करा सके। ईश्वरीय आनन्द प्रदान करा सके। बचपन से ही मंजुला की भगवान कृष्ण में निर्मल भक्ति थी। वह मन में उनका स्मरण करती। रो-रो कर प्रार्थना करती। हे श्याम सुन्दर ! हे मुरलीधर ! हे गोविन्द ! मुझे किसी सच्चे गुरू से मिला दो। मुझ पर दया करो हे केशव ! हे मधुसूदन !

मंजुला के मौहल्ले में कभी-कभी एक बूढ़ी माताजी, भगवान के कीर्तन आदि कार्यक्रमों में आया करती थीं। जब कोई कीर्तन कराता तो उन माताजी को अवश्य बुलाता। मंजुला ने अपनी व्यथा उनको बताई। उन्होंने कहा तू एक बार मेरे गुरु से मिल ले। साक्षात कृष्ण हैं। उन्होंने मंजुला को दादागुरुदेव महाप्रभुजी रामलालजी महाराज की अनेकों लीलाएें सुनाई। वे मंजुला को अपने घर ले गई। दिव्य रश्मियों से युक्त तेजोमय आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के भव्य स्वरूप को निहारते ही मंजुला को लगा जैसे उसका मनःसन्ताप उसी समय दूर होने लगा है। पूज्य श्री गुरुदेव जी के स्वरूप का दर्शन करके मंजुला को प्रतीत हुआ कि गुरुदेव उसे बुला रहे हैं। घर लौट कर मंजुला को चैन नहीं पड़ा। उसने एक दिन उन माताजी से कहा-माँ ! किसी दिन मुझे अपने आश्रम गुरुजी के पास ले चलो। जब से दिव्य स्वरूपों के दर्शन किये हैं मुझसे अब रहा नहीं जाता। माताजी ने गुरु पूर्णिमा पर आश्रम ले जाने का वायदा कर दिया।

सन् १९८९ में मंजुला के तीसरे भाई की शादी थी। घर पर लोगों ने बहुत रोका किन्तु वह न मानी दूसरे ही दिन गुरुपूर्णिमा थी वह उन गुरु बहन को साथ में लेकर शाम को आश्रम पहुँच गई। पूज्य गुरुदेव जी मंजुला से मिलकर बहुत खुश हुये, उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से उसकी प्रार्थना को सुना और लाड़ की मुद्रा बनाते हुये पूछने लगे-

-अरे ! कौन है ? क्या नाम है मुनिया तेरा ?

- मंजुला नाम है गुरुजी मेरा

- अच्छा ! तो बता मैं क्या करूँ तेरे लिए ?

- गुरुजी आप मुझे गुरुदीक्षा दे देंगे ?

– हाँ, हाँ, अवश्य दे देंगे। तो तू मुझे अपना गुरु बनायेगी ?

– जी महाराजजी।

– अच्छा तो एक बात बता मुनिया, तू मेरा कहना माना करेगी ?

– ध्यान में बैठा करेगी ?

– जी, महाराज जी !

– अच्छा तब तो ठीक है। कल गुरुपूर्णिमा है, कल ले लेना। तुम्हारे और भी भाई-बहन दीक्षा लेंगे। जा, तैयारी कर लेना।

गुरुदेवजी से दूसरे दिन गुरुदीक्षा पाकर, गुरुमंत्र लेकर खुशी-खुशी वह अपने घर लौट आई। उसका जीवन धन्य हो गया था। उसे गुरुदेव का सान्निध्य प्राप्त हो गया था। उसे सत्संग मिल गया जिसकी उसे कब से प्रतीक्षा थी–

बड़े भाग्य पाइब सतसंगा, बिनहिं प्रयास होहि भव भंगा।

मंजुला ने संतों के मुख से गुरु तत्व की महिमा सुन रखी थी वह जानती थी कि सच्चे गुरु के सान्निध्य से मानव का वास्तविक कल्याण होता है। वह जन्म कम महत्वपूर्ण नहीं जिस जन्म में पूर्ण सद्गुरू मिल जायें। कहते हैं कि मनुष्य अब तक शरीर बन्धन में रहकर कितनी बार जन्मा और मरा है गणना नहीं की जा सकती। हर जन्म में वही सुख-दुःख, चिन्ता, राग-द्वेष, आशा-निराशा की कहानी। सद्गुरू प्राप्त हो जाने के बाद शरीर बन्धन से मुक्त होने का अपने आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होने का रास्ता मिल जाता है।

बहुत पहले जब मंजुला के पिताजी उसे बचपन में गीता और दुर्गा चालीसा पढ़वाया करते थे तब एक बार मंजुला ने स्वप्न में देखा कि कहीं गंगाजी का किनारा है वह वहीं रेत पर खेल रही है तब एक छोटा सा बालक कृष्ण कन्हैया सा वहाँ आया और मंजुला की बांह पकड़ते हुए बोला–तू चिन्ता मत कर मैं तुझे पार कर दूँगा और फिर उसकी आँख खुल गई।

गुरु मंत्र पाने की मंजुला को बहुत खुशी थी किन्तु मंत्र पर उसकी आस्था ठीक से नहीं बन सकी वह सोचने लगी यह मंत्र तो अन्य देवता का है और मुझे तो भगवान कृष्ण ही प्यारे हैं। उनके नाम का मंत्र होता तो बहुत अच्छा रहता। मंजुला ने पूज्य गुरुदेव जी के लिए एक पत्र लिखा–हे मेरे प्रभु दीनानाथ जी, आपके चरण कमलों में मेरा साष्टांग प्रणाम। आपने जो मुझे मंत्र दिया है उसमें मेरा मन ठीक से लग नहीं रहा है। क्या मंत्र बदला भी जा सकता है ? मेरा भगवान कृष्ण में बहुत मन लगता है। मंदबुद्धि मंजुला अपनी बच्ची पर दया करना। आपकी मुनियाँ–मंजुला।

पूज्य गुरुदेवजी ने अपने पत्र में उत्तर दिया–मुनियाँ हमने जो मंत्र तुम्हें दिया है वह मंत्र हर समय जीभ से जपो खूब जपो फिर धीरे-धीरे श्वांस-प्रश्वांस से जपने की आदत भी डालना। गुरू, इष्टदेव और मंत्र यह संस्कारों के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। इसी मंत्र के जप से सारे देवी-देवता प्रसन्न हो जायेंगे। मंत्रजप करोगी तो सारे काम अवश्य बनेंगे। सुबह पाँच से सात तथा रात को सोने से पहले ध्यानाभ्यास की आदत अवश्य डालो। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की कृपा अवश्य होगी। उनका कृपाकर सदा तुम्हारे सिर पर है। बार-बार आशीर्वाद।

गुरुदेव का पत्र पाकर मंजुला बड़ी प्रसन्न हुई उसकी लगन गुरुचरणों में दिनरात बढ़ती जा रही थी। मंजुला ने सिद्धयोग में प्रकाशित गुरुदेव जी के एक लेख में उनके द्वारा बतलाई ध्यान हेतु दिनचर्या को पढ़ा।

गुरुवाणी-

देखो! साधक को 'युक्ताहार विहार' का सिद्धान्त हमेशा अपने सामने रखना चाहिए। रात्रि में मंत्र जाप करते-करते दस बजे तक सो जाना चाहिए। ठीक चार बजे तक उठ जाना चाहिए। उठने के बाद शौच जाना चाहिए। यदि कोष्टबद्धता रहती है तो नियमित गर्म पानी में नीबू व नमक डाल कर पीना चाहिए। शौच से निवृत होकर दातूनादि से दाँत व जीभ ठीक प्रकार से साफ करने चाहिए। नहाने के लिए ठण्डे पानी का प्रयोग उत्तम रहता है। इससे रोमकूप खुल जाते हैं। तत्पश्चात खद्दर के खुरदरे अंगोछे से शरीर को रगड़-रगड़ कर पोंछना चाहिए। इसके बाद थोड़ा जीवन तत्व साधन अवश्य करना चाहिए। पाँच बजे तक इन कार्यों से निवृत होकर आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की आरती करें। उसके पश्चात मंत्रजाप व ध्यान के लिए बैठ जायें। मंत्र को श्वास-प्रश्वास से जपना चाहिए। यदि इसमें नींद आने लगे तो जीभ से बोल-बोल कर भी जप कर सकते हो। मेरुदण्ड को सीधा रखो ब्रह्मचर्य पूर्वक छः महीने तक शरीर सीधा रख कर अभ्यास करोगे तो ध्यान लगेगा ही लगेगा।

उपरोक्त नियमावली को ध्यान में रखकर मंजुला ने रात-दिन मंत्र जपना शुरू कर दिया। पूज्य गुरुदेवजी के वचनों पर उसे पूरा भरोसा था। मंजुला का मंत्र उच्चारण स्पष्ट नहीं था। उल्टा-सीधा जैसा भी मंत्र उसकी समझ में आ गया था वह जपती रहती थी उसका चिन्तन निरन्तर श्री प्रभुजी के चरण कमलों में बना रहता था।

मंत्र जाप के फलस्वरूप एक दिन अखण्डमण्डलाकार तेज में व्याप्त महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज की कृपा मंजुला पर हुई। दीनजनों के एकमात्र आश्रय वे दीनबन्धुजी मंजुला के स्वप्न में आये, कहने लगे-तू मंत्र जाप किया करती है ये बहुत अच्छी बात है। खूब किया कर तेरे सब संकट कट जायेंगे। मैं सिखाता हूँ तुम्हें ठीक से मंत्र जपना। श्री प्रभु जी ने अपनी श्री मुख से बोल-बोल कर स्पष्ट मंत्र जपना सिखलाया। और कहा-तू हमेशा इसी मंत्र का जाप किया करना।

मंजुला की खुशी का ठिकाना नहीं था। श्री प्रभुजी के चरणों में मन लगा कर किये गये मंत्र की महिमा मंजुला की समझ में आ गई थी उसे मंत्र जप की शक्ति पर पूर्ण विश्वास हो गया था। कुछ समय आनन्द के साथ व्यतीत हुआ।

हाय ! विधाता की ये कैसी इच्छा, यह क्या हो गया ! कान सुनने के लिए तैयार नहीं थे। हृदय की कली खिलने से पहले ही मुरझा गई। सब संसार वीराना सा हो गया। सन् १९९० के जून माह की २५ ता० को पूज्य गुरुदेवजी का शरीर पूरा हो गया था। उनके अचानक लीलावसान का दुःख जीवन के महान दुःखों से कहीं अधिक कष्टकर था। मंजुला यह समाचार सुन कर स्तब्ध रह गई। अभी तो बहुत कुछ कहना था, बहुत कुछ सुनना था बहुत कुछ सीखना था। पूज्य श्री गुरुदेव भगवान से जीवन में केवल एक ही बार मिलना हो सका। गुरु-चरण-कमलों की याद आते ही मंजुला की

आँखों से टप-टप आँसू टपकने लगते। उनके परम सान्निध्य के अभाव में वह स्वयं को बहुत असहाय-निरुपाय महसूस करने लगी। किन्तु उन दिनों में मंजुला पर पूज्य श्री की भारी कृपा बनी रही। जब भी उसका मन व्यथित होता पूज्य गुरुदेवजी तुरन्त उसके स्वप्न में आ जाते थे। वे उसे अपने साथ अनेक दिव्य शिवालयों में ले जाते और शिवजी का पूजन करवाते। इस प्रकार वे दीनानाथ मंजुला के न जाने कितने क्लिष्ट संस्कारों को भोगने हेतु सूक्ष्म प्रभाव वाले बना रहे थे। यही श्री सिद्धगुफा दरबार की शरण लेने पर शिष्य के सुख-दुख व आध्यात्मिक विकास आदि की जिम्मेदारी उन्हीं की हो जाती है। इसीलिए वे स्थूल शरीर को छोड़ने के उपरान्त भी स्वाध्यशील अपने बच्चों को योगमार्ग पर चलाने हेतु उत्कृष्ट मार्गदर्शन समय-समय देते ही रहते हैं फिर क्यों दुःखों के निवारणार्थ अथवा अतिरिक्त ज्ञान हेतु अन्यत्र भटका जाय ? क्यों दूसरों पर श्रद्धा-विश्वास किया जाय ? वे भ्रम में भी डाल सकते हैं।

घर पर ही जिसकी साधना गुरुकृपा से ठीक प्रकार चल रही हो वह कुछ उठे हुए लोगों के पास अपने अनुभवों के विषय में किसी भी प्रकार की पूछताछ करने के लिए किसी के कहने पर भी न जाय। आश्रमों में हर प्रकार की चित्त वृत्ति के लोग आते हैं, रज-तप के वशीभूत लोगों के सम्पर्क में आने पर व्यर्थ ही मन में क्रोध-क्षोभ पैदा हो जाता है। बचते-बचते भी लड़ाई-झगड़े, द्वेष, निन्दा-चुगली आदि के अवसर उत्पन्न हो जाते हैं।

मंजुला की शुरू से अच्छी एकाग्रता बनी हुई थी उसके मन में एक दिन विचार आया कि आश्रम में पुरानों गुरु भाइयों से जाकर पूछा जाय कि हमारे जो अनुभव हैं वे किस प्रकार हैं ? वहाँ जाने पर लोगों से श्री गुरुदेव जी के आदर्शों-शिक्षाओं और उनकी अनुपम लीलाओं का ज्ञान होगा और गुरुचर्चा से गुरुभक्ति को और अधिक बल मिलेगा।

अपनी इस भावना के अनुसार योजना बना कर मंजुला कुछ दिन के लिए आश्रम में आ गई। उस समय आश्रम में पूज्य गुरुदेवजी के महाप्रयाण के विषय को लेकर व्यर्थ की अफवाहों का वातावरण बना हुआ था। जो कुछ वहाँ उसने सुना उससे उसके मन को गहरा आघात पहुँचा। बेचारी आई तो थी गुरुचर्चा सुनने के लिए किन्तु उसे निन्दा-चुगली के सिवाय कुछ न मिला। श्री गुरुदेव जी के चौरासी-पिच्चासी वर्ष के योगपरक उत्कृष्ट जीवन की महिमा को बताने वाला तो उसे कोई मिला नहीं किन्तु जो सुनने को मिलने उससे मन में गहरा क्षोभ पैदा हुआ क्योंकि गुरु-वियोग का दुःख चित्त में पहले से ही बसा हुआ था। कुछ लोगों की निन्दा सुनने से उनके प्रति उसका मन घृणा-द्वेष से भर गया। चित्त मलिन हो गया।

सिद्धपीठ अथवा गुरुस्थान पर किसी पुरुषार्थवान की निन्दा करने या सुनने का क्या परिणाम प्राप्त होता है यह मंजुला ने अपने जीवन में ठीक से अनुभव किया। इस प्रकार की हरकतों से नये साधक का शीघ्र पतन होता है क्योंकि उनके पास पुण्यशक्ति का संचय अधिक नहीं होता।

कुछ दिन रहकर मंजुला अपने घर लौट आई उसने सबसे पहले अनुभव किया कि उसका आरती-पूजन में पहले जैसा मन नहीं लगता। आलस्य-प्रमाद घेरने लगा। गुरुकृपा से जो अनुभव स्वतः ही हो रहे थे वे एकदम समाप्त हो गये। धीरे-धीरे घर में कलह का वातावरण पुनः शुरू हो

गया। जो लोभ प्रेम करते थे वे शत्रुवत व्यवहार करने लगे। रोग और अनेक प्रकार की विपत्तियों ने घर घेर लिया। काफी दिनों तक इसी प्रकार चलता रहा। मंजुला के मन में गहरी कुण्ठा पैदा हो गई उसे लगता जैसे किसी ने हृदय से श्रद्धा छीन ली हो। एकाग्रता नष्ट होते ही मन पुनः बिखरने लगा। मंजुला की समझ में आने लगा था कि अवश्य कोई त्रुटि हुई है।

एक दिन बड़ी अशान्त और दुःखी होकर वह पूजा की अलमारी में रखी धार्मिक पुस्तकों को उलट-पुलट रही थी। उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करना चाहिए, तभी उसे एक पुस्तक में वह पत्र प्राप्त हुआ जिसमें खूब मंत्रजाप करने की आज्ञा गुरुदेव ने प्रदान की थी।

मंजुला ने उस पत्र से प्रेरणा लेकर ग्यारह दिन का अनुष्ठान अपने घर में ही किया। वह दोपहर को फलाहार और शाम को हल्का सात्विक भोजन लेती थी और दिन भर मंत्र जपा करती।

अनुष्ठान के समापन वाले ही दिन की रात को पूज्य गुरुदेवजी ने उसे अपने दर्शन दिये और लगभग फटकारते हुये कठोर शब्दों में बोले-

"खबरदार ! मुनियाँ आगे से कभी भी इन निन्दा चुगली, राग-द्वेष के झमेलों में नहीं पड़ना। साधना में ये सब बातें अच्छी नहीं हैं। किसी की अच्छाई-बुराई से तुम्हें क्या करना ? जो जैसा करेगा भरेगा ! तुमने जिसकी निन्दा में मन लगाया, उसका पुरुषार्थ नहीं देखा। दूसरे के गुण देखना ही ठीक है।"

पूज्य गुरुदेवजी की बात मंजुला की समझ में आ गई थी। संसार में गुण-दोषों से कोई मुक्त नहीं, किसी के दुर्गुण अधिक सता रहे हों तो गुणों को देखकर मन को अशान्ति क्रोध की खाई में गिरने से तुरन्त बचा लें।

इस घटना के बाद से मंजुला अपने घर को ही 'तपोवन' समझती है। अपने हित में सावधानी बरतते हुये वह आश्रम प्रायः मुख्य पर्वों पर ही जाती है।

कोई सिद्धपीठ हो अथवा अपना घर हो जहाँ नित्य लड़ाई-झगड़ा, रागद्वेष का वातावरण बना रहता हो वहाँ अपरिपक्व साधक की चित्त वृत्तियाँ मलिनता को प्राप्त हो ही जाती हैं और साधना में व्यवधान पड़ ही जाता है। तीर्थस्थान, सिद्धपीठ और गुरुस्थान साधना में शीघ्र सफलता प्रदान करते हैं। यदि इन स्थानों का वातावरण शान्ति-प्रेम से परिपूर्ण तथा सेवाभावी स्वाध्यायशील सदाचारी साधकों से युक्त हो तो इन दिव्य स्थानों से बढ़कर साधना हेतु कोई स्थान नहीं। क्रमशः

ब्रह्म की प्राप्ति के लिए

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।।

(श्वेता. उपनिषद २/८)

ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ध्यान का अभ्यास करने वाले को चाहिये कि सिर, ग्रीवा और छाती--इन तीनों को उठाये हुए, शरीर को सीधा और स्थिर करके समस्त इन्द्रियों को मन के द्वारा हृदय में निरुद्ध करके ॐकार रूप नौका द्वारा समस्त भयदायक जन्मान्तर रूप स्रोतों से तर जायें।

नेत्र-ज्योति-प्रकाशिनी-नेति-४

नेति-क्रिया की आवश्यकता

(गतांक से आगे)

बाधा पड़ने से भोजन नहीं पचेगा। इसी प्रकार मल के बढ़ जाने से जिगर व फेफड़ों में सूजन हो जायेगी, जिससे यरकान दर्द-गुर्दा आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जायेंगे। यदि यही मल रक्त में मिल जाता है तो दिल निर्बल होकर धड़कने लगता है शरीर का पोषक वीर्य रक्त से ही निर्माण होता है, तो जैसा रक्त होगा वैसा ही वीर्य बनेगा। वीर्य निर्बल होने से शरीर दिन-दिन क्षीण होता चला जायेगा। वीर्य की क्षीणता के कारण ही सन्तान भी निर्बल उत्पन्न होगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि शरीर में अमृत-रस स्वास्थ्य की रक्षा का मूल कारण है, अस्तु।

नाक से हम जो श्वास लेते हैं, वे श्वास उसी रस से टकराकर फेफड़ों में जाते हैं। रस गन्दा होने के कारण श्वासों की गति एक सी नहीं रहती। श्वास से फेफड़ों की माँस ग्रन्थियों पर कभी कम कभी अधिक दबाव पड़ता है जिससे वे ग्रन्थियाँ फट जाती हैं। अशुद्ध रक्त के कारण इनमें सूजन अधिक हो जाती है, और अन्त में तपेदिक, दमा, दिल आदि का दौरा शुरू हो जाता है। यह तो हुआ गंदे रस का शरीर पर प्रभाव किन्तु यदि उसी रस को उपर्युक्त साधनों द्वारा अमृतमय बनाकर शरीर में प्रवाहित किया जाए, तो वह समस्त शरीर को रोगों से सुरक्षित रख कर उसमें जीवन शक्ति, उत्पन्न करके बलवर्द्धक सिद्ध होगा। परिमाणमतः आमाशय जो रोगग्रस्त था, वह अब रोगों को दूर करने में समर्थ हो जायेगा। रक्त में नूतन परमाणु उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण शरीर की समस्त रोगों से रक्षा होती है। यह अमृत-शक्ति सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करती रहती है और शरीर के जिस अंग में कोई न्यूनता दीखती है उसे शीघ्र ही पूर्ण कर देती है। जब इस अमृत-शक्ति का प्रभाव फेफड़ों पर होगा तो श्वासों की गति सम हो जाएगी। श्वासों की गति सम होने से जीवन शक्ति बढ़ जाएगी, फेफड़ों को पूर्ण शक्ति देगी और तपेदिक, दमा, दिल, आदि के अशुद्ध परमाणुओं को नष्ट करके नूतन-रक्त, नूतन-बल और नूतन-जीवन प्रदान करेगी।

इसी प्रकार जब अमृतमयी शक्ति रक्त में मिलकर जोड़ों और शरीर पर प्रभाव डालेगी तो इनसे भी असाध्य से असाध्य रोग ही क्यों न हों, दूर हो जायेगा। जब वह अमृत शक्ति उच्च विचारों से युक्त होगी तो शरीर को अमृत रस स्वयं ही प्राप्त होगा। इस अमृतरस को उत्पन्न करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता है, जो साधकों को अपने हृदय पर अवश्य अंकित कर लेनी चाहिए। पहली-जब तक नसों का मल शुद्ध न होगा, तब तक नाड़ियों में अमृत रस प्राप्त करने की शक्ति नहीं आयेगी। फलस्वरूप मस्तक निर्बल हो जायेगा। दूसरी-जब तक भोजन सात्विक न होगा तब तक सात्विक विचार उत्पन्न नहीं होंगे, जिससे अमृत प्राप्ति नहीं हो सकेगी। तीसरी-शरीर का शक्ति सम्पन्न होना अत्यावश्यक है। जब तक शुद्ध रस और शरीर को पूर्ण रूप से शक्ति प्राप्त

नहीं होती तब तक उस दुर्बलता को नष्ट करने के लिए अनुकूल व्यायाम, वायु-सेवन तथा प्राणायाम की सहायता लेना आवश्यक है।

अब विचारना यह है कि उपर्युक्त तीन बातें कहाँ और किस प्रकार प्राप्त की जा सकती हैं ? डाक्टर लोग नअलटूल (एक यन्त्र) के द्वारा कण्ठ को शुद्ध तथा नासारोग को दूर करने के लिए कई प्रकार के पानी नाक द्वारा ऊपर चढ़ाते हैं। आयुर्वेद में भी नासिका द्वारा पानी पीने की प्रशंसा की गई है।

व्यंगावलीपलितघ्नं पनिसैव सर्वव्यका दोषोपधरा,
रजनीक्षये अम्बु नासायाँ रसायनं दृष्टि जनकश्च।

रात्रि व्यतीत होने पर प्रातः काल नासिका से जल पीने से पुराना रेशा, गले पड़ना गले का बैठना, खांसी शरीर का दुबलापन, बालों का श्वेत हो जाना, मुख पर झुर्रियाँ पड़ जाना, बुढ़ापे से उत्पन्न होने वाली दुर्बलता तथा नेत्रों की क्षीण ज्योति का नाश होकर नेत्र ज्योति प्रकाशित होती है और आयु की वृद्धि होती है। उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि नासिका द्वारा जलपान करने से नेत्र श्रोत, कण्ठ कपालादिक के रोग तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार चक्रपाणि जी चक्रदत्त के २२वें श्लोक में लिखते हैं :

नागर कल्क विमिश्रं क्षीरं नस्येनयोजितं पुंसाम्,
नाना दोषोद्भूता शिरोः रुजां हन्ति तीव्रतराम्।

सौंठ को दूध में पकाकर, छानकर नासिका द्वारा पीने से अनेक प्रकार के सिर के रोग नष्ट होते हैं।

इससे यह निश्चय होता है नाक से जो वस्तु सेवन की जाती है, उसका प्रभाव कपाल या कण्ठ आदि पर अवश्य पड़ता है। फिर भी आश्चर्य है कि बहुत से विद्वान हठयोग की नेति आदि क्रियाओं को नहीं मानते। यह ध्यान रहे कि औषधि सेवन का प्रभाव थोड़े समय तक रहता है, पश्चात् रोग पुनः प्रारम्भ हो जाता है। रेशा दूर करने के लिए ऐसी कोई भी औषधि नहीं जो उसकी जड़ को नष्ट कर दे, उसे उत्पन्न होने से रोक सके। वैद्यों तथा डाक्टरों के पास ऐसी कोई औषधि नहीं है जिससे कि नजला पुनः कदापि न हो सके। औषधियों पर धन लग जाता है। डाक्टरों व वैद्यों का समय भी व्यय होता है पर उनके सब प्रयत्न व्यर्थ होते हैं और वे पूर्णतया रेशे को दूर करने में असफल रहते हैं। जो कार्य कोई नहीं कर पाता, उसे योग की शक्ति क्षण भर में कर डालती है। मैं श्री पूज्यपाद् गुरुदेव जी की ओर से डाक्टरों तथा वैद्यों को हठयोग के साधनों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निमन्त्रण देता हूँ कि वे सुख और शान्ति को देने वाली प्राचीन ऋषियों की योगविद्या को, जो कि समस्त रोगों को जड़ से उखाड़ने तथा नाश करने में समर्थ है, सीखकर देश का उद्धार करें। योगविद्या का प्रत्येक साधन मनुष्य को शारीरिक तथा आत्मिक उन्नति प्रदान करने में समर्थ है। मनुष्य योग द्वारा शरीर तथा मन दोनों को अपने वश में कर सकता है। इस संसार में वही मनुष्य पूर्ण सुख प्राप्त कर सकता है, जिसका शरीर और मन अपने वश में हो। योग द्वारा गृहस्थ आश्रम में रहते

हुए भी मनुष्य अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर और सुडौल बना कर मन को वश में रख सकता है। जिस मनुष्य का मन वशीभूत नहीं वह अत्यन्त ऐश्वर्यमान होते हुए भी सुखी नहीं रह सकता है। योग द्वारा मनुष्य व्यायाम, प्राणायाम, धारणा और ध्यान करके शरीर के मन दोनों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर सकता है।

शरीर की शुद्धि के लिए ऋषियों ने षट् कर्म कहे हैं : १. नेति, २. धौती, ३. वस्ति, ४. नौली, ५. त्राटक, ६. कपालभाति। किन्तु इस पुस्तक में विशेष रूप से केवल नेतिक्रिया का वर्णन किया गया है। पुस्तक के विस्तार के भय से अन्य साधनों का वर्णन उचित नहीं समझा गया। जिन सज्जनों को योग विद्या के साधनों के ज्ञान की रूचि हो और वे उनसे लाभ उठाना चाहते हों तो उन्हें इस योग साधन आश्रम से शीघ्र प्रकाशित होने वाले अनुपम ग्रन्थ योग शक्ति कल्प वृक्ष को देखना चाहिए। उक्त पुस्तक में विशद् रूप से विवेचना की गई है कि योग के किस-किस साधन द्वारा कौन-कौन से साधारण तथा असाध्य रोगों की निवृति सरलता से हो सकती है। शरीर को पूर्णतया निरोग रखते हुए किस प्रकार मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र आत्म-प्राप्ति कर सकता है।

मनुष्य का शरीर, दिल और दिमाग इन्हीं दो प्रधान अंगों पर अवलम्बित है। इन्हीं दोनों अंगों को शुद्ध रखना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। नेति क्रिया इन दोनों स्थानों को शुद्ध तथा शक्तिशाली रखने में अद्‌भुत कार्य करती है। हठयोग की क्रियाओं में नेति क्रिया के जितने भी ढंग मिलते हैं या जो अनुभव श्री गुरु महाराज जी को कई वर्षों में प्राप्त हुआ है, जो कि इस विद्या को सीखने के लिए वर्षों भारतवर्ष के पर्वतों पर ऋषियों की खोज करते रहे हैं, उनकी इस विद्या तथा अनुभव का साधारण विवरण आपके सम्मुख रखता हूं। यद्यपि योग शास्त्रों में स्थान-स्थान पर यह लिखा गया है , कि गोपनीयं गोपनीयं, गोपनीयं प्रयत्नतः किन्तु मैं इस विद्या को छिपाना नहीं चाहता। पर अत्यावश्यक है कि योग विद्या को किसी योगी महात्मा की शरण में रहकर या हमारे योग-साधन आश्रम में आकर प्राप्त करना चाहिए। यहाँ प्रत्येक आये जिज्ञासु को बिना किसी फीस या शुल्क के योग की प्रत्येक क्रिया सुगमता से कराई तथा सिखलाई जाती है। जो व्यक्ति रोग को निश्चित किए बिना ही नेति-क्रिया का प्रयोग करेंगे, उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त होने में सन्देह है। रोग को निश्चित करके ही नेति-क्रिया का विधिपूर्वक प्रयोग गुणकारक होगा। यद्यपि यह नितान्त सत्य है कि कंठ से ऊपर वाला कोई भी रोग हो, नेति-क्रिया से दूर हो जायेगा। नेति-क्रिया के निम्नलिखित विभाग हैं :

१. सूत्र-नेति
२. जल-नेति
३. दुग्ध-नेति
४. घृत-नेति

प्रथम सूत्र-नेति का ही सम्यक्‌तया उल्लेख किया जाता है।

सूत्र-नेति बनाने की विधि

सूत्र-नेति सूत से एक विशेष तरीके से बनाई जाती है। जिसके सिरे इस प्रकार के रहते हैं कि सूत्र का कोई भी धागा बाहर न निकला रहे। नेति के बनाने का तरीका या तो हमारे आश्रम में आकर

सीख लें या किसी जानने वाले महात्मा से सीखना चाहिए। नेति बनाने के लिए सूत्र के कितने तार होने चाहिए यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक नियम नहीं हो सकता है। क्योंकि सूत्र एक सा नहीं होता है, कोई महीन होता है और कोई मोटा। दूसरे नासिका के छिद्र भी भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी पुरुष के छिद्र छोटे और किसी के बड़े होते हैं अर्थात् छिद्र एक दूसरे से भिन्न होते हैं। हमारी वर्तमान प्रथा के पूर्व कई सज्जनों ने नेति-क्रिया का इस प्रकार वर्णन किया है कि नेति चिकने सूत्र के ९ तार से लेकर १५ तार तक की होनी चाहिए और हठयोग-प्रदीपिका में इस प्रकार वर्णन किया गया है :

"सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेच्चैषानेतिः सिद्धैर्निगद्यते।।"

चिकने सूत्र से बनाई हुई नेति का एक सिरा एक नथुने में देकर और दूसरे नथुने को दबाकर जिस नथुने में नेति हो उस नथुने में पूरक प्राणायाम करें, ऐसा बारम्बार करने से नेति मुख में आ जाती है। कई साधकों ने उक्त क्रिया करके देखी किन्तु इस प्रकार करने से नेति नहीं हुई। शायद ऐसा करने पर कभी किसी व्यक्ति को हो गई हो। अन्यथा इस प्रकार नेति-क्रिया हो जाना साधकों के लिए कठिन ही नहीं किन्तु भयावह भी है। पूरक बारम्बार पूरक करने से कपाल में गर्मी (खुश्की) हो जाने का भय है। अस्तु, हमारी समझ में उक्त प्रकार से वही व्यक्ति नेति कर पाता है जो प्राणायाम का अभ्यस्त हो, पर हमारी वर्तमान प्रथा द्वारा प्राणायाम का नाम तक न जानने वाला प्रत्येक मनुष्य, भी बड़ी सुगमता से नेति कर लेता है। यह स्पष्ट है कि यदि नेति इतनी मोटी हो जो नासिका के छिद्रों के स्थानों को छीलती हुई गुजरती है तो पीड़ा या सूजन का भय रहता है और वह नेति नहीं हो सकेगी। और यदि नेति इतनी पतली है कि उसकी रगड़ (दबाव) नासिका के अन्दर कपाल कण्ठ, मुख, नेत्र श्रोत्रादिक केन्द्र स्थान को नसों से नहीं लगती तो वह नेति भी उतनी लाभदायक नहीं होगी। अतः नेति की मोटाई अपनी नासिका के छिद्रानुसार इतनी होनी चाहिए जो नासिका कण्ठ, कर्ण, नेत्रादि स्थानों की नाड़ियों के केन्द्र स्थानों को घर्षण करती हुई मुख से निकले। हमारे आश्रम में चरखे से कते हुए साधारण सूत की २७ तार तथा १६२ तार या अपने छिद्रानुसार इससे भी अधिक की नेति प्रयोग में लाई जाती है। यदि ८१ तार की नेति बनानी हो तो चरखे का कता हुआ चिकना सूत्र ५४ गज लेकर तिहरा करके फिर तिहरा कर लेना चाहिए। इस प्रकार ५४ गज सूत्र लम्बाई में केवल ६ गज रह जायेगा। उसे फिर तिहरा कर लेने पर केवल २ गज लम्बा सूत रह जायेगा। उसे पानी में भिगो दें, थोड़ी देर बाद उसे निकाल कर बट देनी चाहिए कि तीन तार की डोरी कड़ी बने। कड़ी बट देने के बाद २ गज लम्बे तार को इस प्रकार तिहरा करके डोरी बनाना चाहिए कि तार का एक सिरा तार के बीच में डालकर बाहर निकाल दिया जाय ताकि वह सिरा डोरी में सम्यक्तया मिल जावे और तैयार हुई तीन तार की डोरी का एक सिरा जो ऐसा रहे, जिससे एक तार भी सूत का बाहर मालूम न हो। इस प्रकार दो फुट के लगभग नेति बन जाती है इस प्रकार जितनी मोटी नेति की आवश्यकता हो, उतना ही सूत लेकर नेति बना लें। निर्माण हुई

नेति १ फुट से २ फुट तक होनी चाहिए। नेति की डोरी इतनी कड़ी बननी चाहिए कि यदि बीच में से पकड़कर ऊपर को खड़ी करें तो वह चार पाँच इंच खड़ी हो जाए।

सूत्र नेति करने की विधि

साधक को एक लोटे में पानी भरकर पावों के बल मेरुदण्ड (शरीर) को सीधा रखते हुए नेति हाथ में लेकर बैठना चाहिए। फिर नेति को जल से तर करके दोनों हाथों से इस प्रकार पकड़े कि बायां हाथ नेति के ऊपरी सिरे की ओर रहे और दायां हाथ उससे नीचे, दाहिने हाथ की तीन अंगुली अर्थात् अंगूठे और उसके पास की अंगुली तर्जनी और मध्यमा तथा बायें हाथ के अंगूठे और तर्जनी द्वारा नेति को सीधी कड़ी रखते हुए नासिका के एक छिद्र में बिल्कुल धीरे-धीरे ऊपर को प्रविष्ट कराएं। उस समय साधक की नासिका में खुजली होगी तथा छींके भी आयेंगी इससे साधक को हतोत्साहित नहीं होना चाहिए, अपितु धीरे-धीरे नेति को ऊपर की ओर प्रवेश कराते रहना चाहिए। जिस समय नेति नाक के अन्दर जायेगी तो नाक में खुजली के साथ-साथ आँखों में जल भी आ जायेगा। इसके पश्चात् जब नेति मस्तक के नीचे पहुँचती है तब नेति के दबाव से कफ वाली नाड़ियाँ, जिनमें गन्दा रस रुका रहता है, सारा कफ बाहर निकाल कर फेंक देती है उस समय साधक को यह ध्यान करना चाहिए कि मैंने इस क्रिया द्वारा सारी बलगम अन्दर से बाहर निकाल दी है। नेति जब इन नसों के पास पहुँचती है तो सिर में भी खुजली मालूम देती है और किसी-किसी को छींकें आने लगती हैं। इसका कारण साधक को यह समझना चाहिए कि जितनी नसों पर नेति का दबाव पड़ा है वह समस्त नाड़ियां बलगम अथवा मल को बाहर निकाल रही हैं और सारे सिर के भाग में जो भी अमृत उत्पन्न करने वाली नसें हैं, वे शुद्ध होकर अमृतरस उत्पन्न करने योग्य बन गई हैं। जिस भाग में अधिक रोग होगा उससे उसी प्रकार अधिक मल, पानी इत्यादि निकलेगा। यदि आँखों में बलगम का विस्तार अधिक होगा तो आँखों से पानी अधिक निकलेगा और यदि हलक में बलगम का प्रभाव अधिक होगा तो हलक से पानी अधिक निकलेगा। इस प्रकार समस्त नाड़ियाँ अपना-अपना मल बाहर निकाल देती हैं। नेति जब कण्ठ के पास पहुँचती है और काग् के साथ टकराती है तो ऊबकाई-सी आने लगती है। उस समय साधक दाहिने हाथ की दो अंगुलियाँ तर्जनी और मध्यमा मुख से अन्दर डालकर नेति को पकड़कर धीरे-धीरे खींच कर मुख से बाहर ले आवे। नेति को बाहर की ओर खींचते समय दूसरे हाथ से नाक में नेति को ऊपर की ओर ढकेलते रहना चाहिए। इस प्रकार एक हाथ से धीरे-धीरे खींचते समय दूसरे हाथ से धीरे-धीरे ऊपर ढकेलते हुए जब नेति कुछ अधिक बाहर निकल आवे तो एक बार नाक से ही वापस लौटा लेनी चाहिए, जिससे ऊर्ध्वमार्गी सारी नसें साफ हो जाती हैं। उन नसों में से कुछ तो अपना मल ऊपर को फेंकती हैं और कुछ नीचे को। दो-तीन दिन तक इसी प्रकार साधक को चाहिए कि कभी नेति को अन्दर की ओर कुछ खींचे कभी थोड़ा बाहर की ओर, पश्चात् मुख से निकाल ले। मुख से निकालने के पश्चात् नेति धोकर कील पर टाँग देनी चाहिए और नेति के दोनों सिरों को पकड़कर खींच देना चाहिए जिससे नेति सीधी रहे।

क्रमशः

वेदान्त-शिक्षा

यदा सद्‌गुरुकटाक्षो भवति तथा भगवत्कथाश्रवण ध्यानादौ श्रद्धा जायते। तस्माद्धृदयस्थितानादिदुर्वासना-ग्रन्थि विनाशो भवति। ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे विनश्यन्ति। तस्माद् धृदयपुण्डरीककर्णिकायां परमात्मा-विर्भावो भवति। ततो दृढ़तरा वैष्णवी भक्तिर्जायते। ततो वैराग्यमुदेति। वैराग्याद्‌बुद्धिविज्ञानाविर्भावो भवति। अभ्यासात्तज्ज्ञानं क्रमेण परिपक्वं भवति। पक्वविज्ञाना-ज्जीवन्मुक्तो भवति। ततः शुभाशुभकर्माणि सर्वाणि सवासनानि नश्यन्ति।।

(त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद ५)

ज्ञानी तत्वदर्शी सद्‌गुरुदेव के कृपाकटाक्ष का आलम्बन प्राप्त कर भगवत्कथा–श्रवण और ध्यानादि में श्रद्धा की अभिव्यक्ति होती है। उससे हृदयास्थित अनादि दुर्वासना–ग्रन्थि का विनाश होता है। उससे हृदयास्थित सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। उससे हृदयकमल की कर्णिका में हृदयेश्वर का आविर्भाव होता है। उससे दृढ़तरा वैष्णवी भक्ति की अभिव्यक्ति होती हैं उससे उत्कृष्ट वैराग्य होता है। वैराग्य से बौद्धविज्ञान का आविर्भाव होता है। अभ्यास से क्रमशः वह ज्ञान परिपक्व होता है। परिपक्व विज्ञान से जीवन्मुक्त होता है। उससे शुभाशुभ सर्वकर्मो का वासना रहित नाश होता है।

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

...TTER

श्री

Jaya Karan Agrawal, Khoradia Bhawan, Lower Rajwari Road, JHARIA (Jh.K.) 828 111

सद्भिः संग प्रकुर्वीत सिद्धिकामः सदा नरः। नासिद्भिरिह लोकाय परलोकाय वा हितम्।।
पण्डितैश्च विनीतैश्च धर्मज्ञैः सत्यवादिभिः। बंधनस्थोऽपि तिष्ठेच्च न तु राज्ये खलैः सह।।

(गरुडपुराण, नीतिसार)

सिद्धि चाहने वाला पुरुष सदा ही सत्पुरुषों से संग करे, न कि असत्पुरुषों से। असत्पुरुषों का संग इहलोक या परलोक में कभी भी हितकर नहीं होता। पण्डित, विनीत, धर्मज्ञ और सत्यवादियों के साथ बंधनयुक्त (कष्टयुक्त) रहते हुए भी निवास करे, परन्तु राज्य प्राप्ति होने पर भी दुष्टों के साथ निवास न करे।

मुद्रक एवं प्रकाशक : विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय कला एवं प्रिंटिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326
सम्पादक–आचार्य ब्र० (डा.) रामलाल शर्मा